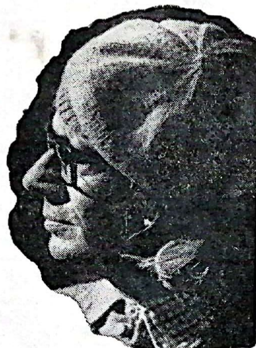
हिन्दी के

प्रख्यात उपन्यासकार

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क

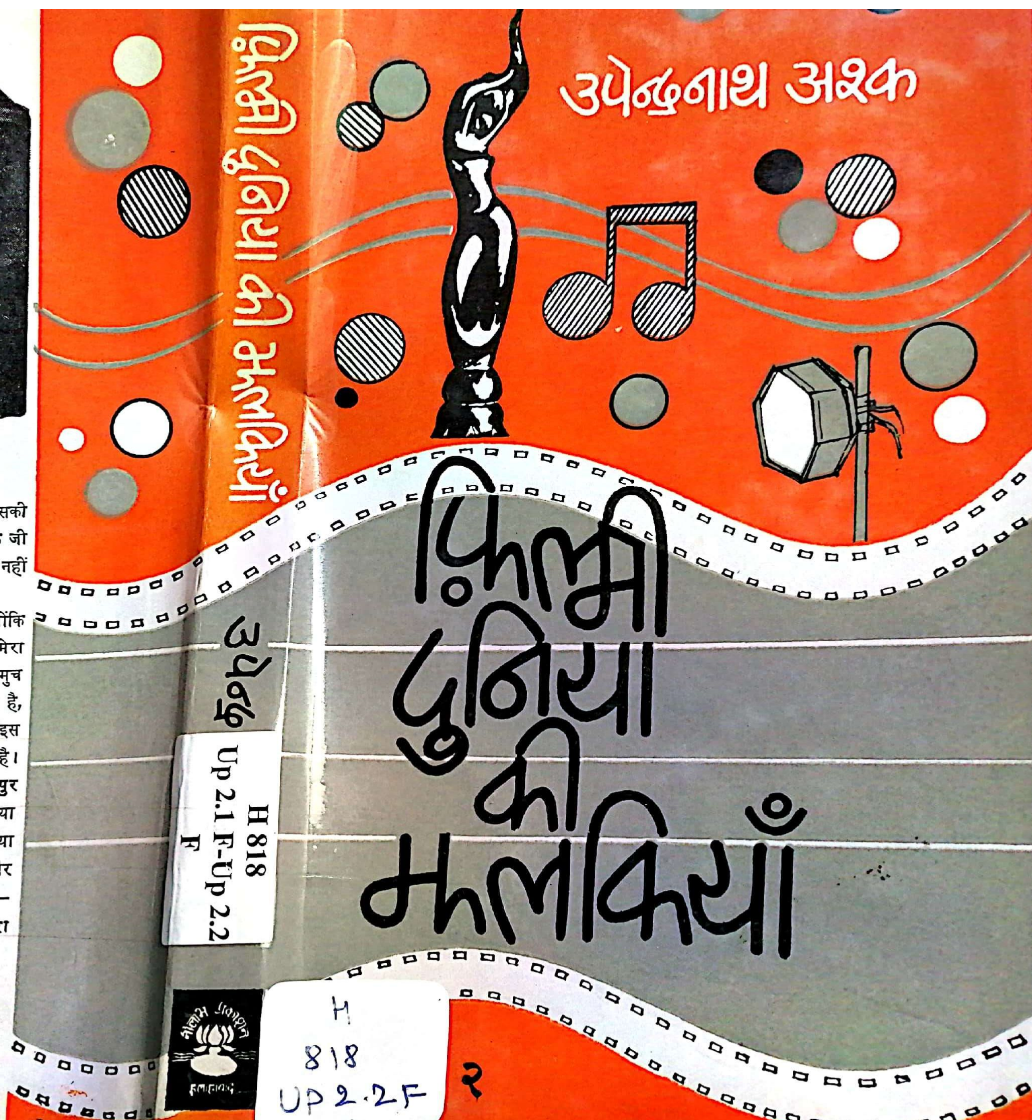
का

नवीनतम उपन्यास



निमिषा

- विवाह और प्रेम के बीच झूलते, संशयग्रस्त चित्रकार गोविन्द, उसकी दूसरी पत्नी माला और प्रेमिका निमिषा का अभूतपूर्व चित्रण अश्क जी ने इस उपन्यास में किया है, जो महज़ एक रोचक प्रेम-कथा ही नहीं है, बल्कि आज के मध्यवर्गीय समाज का समग्र चित्र भी है।
- मेरे मर्म को यह उपन्यास शायद इसलिए भी ज्यादा छू गया है, क्योंकि निमिषा और गोविन्द के व्यक्तित्व का कुछ मिला-जुला हिस्सा मेरा अपना व्यक्तित्व है। आपने सभी पात्रों के व्यक्तित्व का सचमुच इतनी सूक्ष्मता से इतना स्वाभाविक चित्रण किया है, जैसे लगता है, आपने स्वयं ऐसे अनुभवों को कभी-न-कभी भोगा हो...आपके इस उपन्यास में एक आम जिन्दगी की प्यारी-सी कल्पना साकार हुई है।
  —श्रीमती अनीता भाटिया, जमशेदपुर
- गोविन्द की परिस्थितियों को, घुटन को, मैंने कई बार खुद में सँजोया है तो निमिषा को भी, नारी होने के नाते, मैंने खुद में महसूस किया है..जाने क्यों मुझे लग रहा है जैसे यह निमिषा, वह गोविन्द और अँगूठा नचाने वाली फूहड़ माला वास्तविक धरातल पर ज़रूर हैं—कहीं जी रहे होंगे।
  —ऊषा किरण, मथुरा





फ़िल्मी जीवन के अपने दो वर्षों में अश्क जी ने दसियों कड़वे-मीठे अनुभव सँजोये, इस जगमगाती हुई दुनिया को बहुत नज़दीक से देखा-परखा और इन अनुभवों को अपनी रचनाओं में व्यक्त किया।

फ़िल्मी दुनिया की झलकियाँ — के इस दूसरे खण्ड में अश्क जी की वे चुनी हुई कहानियाँ, लेख और रेखाचित्र संकलित हैं, जो फ़िल्मों के चटकीले संसार को पाठकों के सामने पेश करते हैं।

इसके साथ ही इस खण्ड में बी० बी० सी० (लन्दन) के युवा कार्यक्रम अधिकारी श्री श्रीराम विद्यार्थी को दिया गया अश्क जी का इण्टर्व्यू भी है, जिसमें अश्क जी ने अपने अनुभवों की रोशनी में फ़िल्म के माध्यम, उसकी तकनीक, देशी-विदेशी फ़िल्मों और अभिनेताओं-निर्देशकों का मूल्यांकन प्रस्तुत किया है।

फ़िल्मी दुनिया की झलकियाँ — का सबसे बड़ा आकर्षण है — **सुलोचना के नगर में** — वह अधूरा उपन्यास, जिसे अश्क जी ने बम्बई में रहते हुए ही लिखना शुरू किया था।

हिन्दी के तमाम पाठक आज तक फ़िल्मों की तड़क-भड़क और चकाचौंध को दूर ही से देखते रहे हैं, लेकिन अश्क जी अपनी दिलचस्प, हास्य-व्यंग्य-भरी शैली में इस अनोखे संसार और उसके यथार्थ को इन सभी पाठकों के इतने करीब ले आते हैं कि वे उसे छू के महसूस कर सकें।

जिन पाठकों ने **फ़िल्मी दुनिया की झलकियाँ भाग-१** में अश्क जी के दिलचस्प संस्मरण पढ़े हैं, उन्हें इस पुस्तक में और भी आकर्षक और रोचक रचनाएँ मिलेंगी।

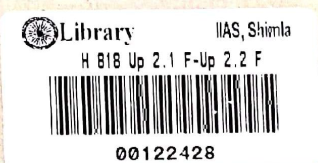
फ़िल्मी दुनिया की झलकियाँ

उपेन्द्रनाथ अश्क

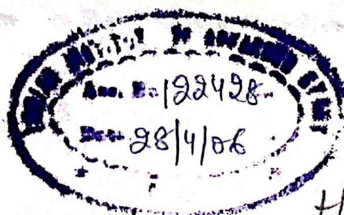


नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद

● प्रथम संस्करण : १९७९
● कॉपीराइट : श्री उपेन्द्रनाथ अश्क
● आवरण : श्री शिवगोविन्द पाण्डेय



● मूल्य : नीलाभ प्रकाशन इलाहाबाद मूल्य : १५०.००



● प्रकाशक :
नीलाभ प्रकाशन,
५, ख़ुसरो बाग़ रोड, इलाहाबाद

● मुद्रक :
सुपरफ़ाइन प्रिंटर्स,
१-सी, बाई का बाग़, इलाहाबाद

अनुक्रम

**

फ़िल्मी दुनिया की झलकियाँ

दूसरा खण्ड



हीरो का रोल

⁂

❋ जी, मैं यहाँ क्या करता हूँ ? मैं भी एक एक्स्ट्रा हूँ। लेकिन डायरेक्टर मेहरोत्रा अपनी अगली फ़िल्म में मुझे साइड हीरो का रोल दे रहे हैं। मैं तो बहुत पहले हीरो हो गया होता, लेकिन दुर्भाग्य से ऐन शूटिंग के वक्त बीमार हो गया। वह चौकीदार, जिसका पार्ट महेश दीक्षित को मिला, दुर्भाग्य से मैं ही था। ❋



हीरो का रोल

* *

जो नहीं, ये साहब कम्पनी की नयी खोज नहीं। हीरो, साइड-हीरो, विलेन, कैरेक्टर-ऐक्टर – ये कुछ भी नहीं। ये केवल एक्स्ट्रा हैं। आप यहाँ नये-नये आये हैं। आपको यहाँ वालों की गप्पों का ज्ञान नहीं। इन लोगों की बातों को आप सच मानने लगेंगे तो आपको एक भी काम का आदमी नहीं मिलेगा और आप रुपया लुटा कर घर जा बैठेंगे।

आप असल में दीक्षित जी के नाक-नक्शे, डील-डौल से प्रभावित हो गये हैं। फिर गप्प हाँकने में सारे स्टूडियो में इनका कोई सानी नहीं; पर मैं आपको बताता हूँ कि महेश दीक्षित भी इनका असली नाम नहीं। अब जब आपने मुझे दो बात करने का समय दिया है और आप सब स्थिति ठीक-ठीक जानना ही चाहते हैं तो मैं आपको हर बात से आगाह रक्खूंगा और धोखा नहीं खाने दूँगा।

– इनका असली नाम? आप सारी कम्पनी में किसी से पूछ देखिए, इनका असली नाम कोई नहीं जानता। फ़िल्मी दुनिया में सब जगह ये 'दीक्षित जी' कहलाते हैं। लेकिन सिर्फ़ मैं हूँ, जिसे इनके असली नाम का पता है। बात यह है कि मैं इन्हें सात बरस से जानता हूँ। बड़ी देर तक हम इकट्ठे मलाड में रहते रहे हैं। फ़िल्मी दुनिया में आने से पहले ये अपने आपको 'आर० राम' के नाम से याद करते थे। हम लोग समझते थे कि इनका असली नाम 'रलाराम' है, क्योंकि एक तो यह नाम पंजाब में काफ़ी चलता है और ये 'दीक्षित जी' कहाने के बावजूद पंजाबी हैं; दूसरे, जब-जब हमने इनसे पूछा कि 'आर० राम' का मतलब क्या 'रलाराम' है? – तो ये सदा चुप लगा गये

और हमने समझा कि शायद हमारा अनुमान ग़लत नहीं। लेकिन सच मानिए, इनका असली नाम रलाराम भी नहीं।

अभी कुछ दिन पहले हम 'हिन्द माता' में एक पिक्चर देखने जा रहे थे कि अचानक ट्राम में चढ़ते हुए इनके एक वतनी मिल गये और बड़े तपाक से इनकी पीठ पर धौल जमाते हुए बोले, "सुना वे रुल्दू, सुनिया तू हीरो बन गिया ऐं। नन्ते (याने अनन्तराम) नूं तेरी चिट्ठी आयी सी कि कम्पनी दी अगली फ़िल्म विच तू हीरो दे रोल इच उत्तर रिया ऐं।[1]" ये तो तत्काल उनके गले में बाँह डाले मुझसे जरा परे जा बैठे, पर मुझे पता चल गया कि इनका असली नाम 'रलाराम' नहीं, 'रुल्दूराम' है।

– महेश दीक्षित क्या कम्पनी ने इनका नाम रखा? अजी खुदा-खुदा कीजिए? यह नाम इन्होंने स्वयं रखा है। बात यह है कि किसी ज़माने में हीरो के नाम के साथ 'कुमार' होना बड़ा जरूरी समझा जाता था। अब भी अशोक कुमार, दिलीप कुमार और किशोर कुमार बड़े लोकप्रिय हैं। लेकिन हमारे रुल्दूराम जी को ये नाम सब घिसे-पिटे लगते हैं। यों फ़िल्मी दुनिया के वहमों से ये भी मुक्त नहीं, इसलिए यद्यपि इन्होंने नाम के सिलसिले में किसी हीरो का अनुकरण नहीं किया तो भी आधा नाम एक प्रसिद्ध डायरेक्टर तथा आधा एक प्रसिद्ध ऐक्टर से ले कर अपना यह नाम ईजाद कर लिया है। दिल में कभी-कभी सोचते हैं कि जैसे वे लोग प्रसिद्ध हो गये हैं, कौन जाने कभी ये भी फ़िल्मी दुनिया में चमक उठें।

– इस बड़ी कम्पनी में कैसे आ गये? अब यह न पूछिए। यह बड़ी लम्बी कहानी है। पेशावर कॉलेज में पढ़ते थे, जब सहसा एक दिन इन्हें पता चला कि फ़िल्मी दुनिया के एक चमकते सितारे भी कभी उसी कॉलेज की बेंचों पर टिमटिमाया करते थे। तभी इन्हें पहली बार खयाल आया कि आखिर इनमें कौन-सी कमी है, जो ये फ़िल्म के आकाश पर उन्हीं की तरह न चमक सकें? – क्या ये उन्हीं की तरह लम्बे-तगड़े, लहीम-शहीम नहीं, कुश्ती नहीं लड़ते, डण्ड नहीं पेलते? आखिर इनमें कमी किस बात की है? पढ़ने में यों भी कभी इनका मन न लगा था और किताबों के नीरस वातावरण की तुलना में फ़िल्मों की रंगीन दुनिया बड़ी लुभावनी लगती थी। तब मन में इन्होंने फ़ैसला कर लिया कि अपने गुरु के पद-चिन्हों पर चलते हुए (बिना उनसे मिले अपने कॉलेज में कभी पढ़ने वाले उन अभिनेता को इन्होंने सहज ही अपना गुरु मान लिया था।) ये भी एक-न-एक दिन फ़िल्मी आकाश पर उज्ज्वल नक्षत्र की भाँति ऐसे चमक उठेंगे कि भारत भर के फ़िल्म-दर्शकों की नज़रें इनके अभिनय को देख कर चौंधिया जायँ।

1. सुना बे रुल्दू, सुना है कि तू हीरो बन गया है। अनन्तराम को तेरी चिट्ठी आयी थी कि कम्पनी की अगली फ़िल्म में तू हीरो की भूमिका में उतर रहा है।

अपने इस निर्णय को कार्यरूप में परिणित करने के लिए इन्होंने यह जरूरी समझा कि पहले अभिनय-कला में कुछ सिद्धि प्राप्त करें और न केवल इन्होंने उस कला पर कई अंग्रेज़ी ग्रन्थ घोंट कर पी डाले, बल्कि कॉलेज की ऐमेचर समिति के मन्त्री भी बन गये। ये प्रायः इस बात की डींग मारा करते हैं कि इन्होंने उस समिति के पहले नाटक 'प्रेम वियोगिनी' में अद्वितीय कला का परिचय दिया और दर्शक इनके अभिनय को देख कर करतल-ध्वनि कर उठे। लेकिन वास्तव में (जैसा कि इनके उन्हीं वतनी साहब ने हमको बताया) वह नाटक इन्हीं के अभिनय के कारण चौपट हो गया। इनके अभिनय पर लोगों ने खूब आवाज़े कसे, शोर मचाया और ठहाके लगाये। यहाँ तक कि इनको फिर कॉलेज के स्टेज पर उतरने का साहस नहीं हुआ। लेकिन आदमी ये ढीठ हैं। फिर इन्होंने सुन रखा था कि इनके वे गुरु कई असफलताओं के गड्ढों से निकल कर सफलता के स्वर्ण-शिखर पर पहुँचे थे, इसलिए उस आरम्भिक असफलता से हतोत्साह हो कर जी छोड़ देने के बदले, इन्होंने अपने सारे प्रयत्न बम्बई का किराया जुटा देने में लगा दिये।

पिता इनके ग़रीब क्लर्क थे और अपने सुयोग्य बेटे को यदि आई० सी० एस० नहीं, तो पी० सी० एस० बने ज़रूर देखना चाहते थे, लेकिन रुल्दूराम जी उन बड़े पदों को कुछ सुधरी हुई क्लर्की से ज़्यादा महत्व न देते थे और उस बँधे-रुके पोखर की मछली बनने के बदले, फ़िल्मी क्षेत्र की विशाल झील में राजहंस बने तैरने की आकांक्षा रखते थे। इसलिए जब और किसी तरह बम्बई का किराया न जुटा पाये और निरन्तर फ़िल्मी दुनिया में ध्यान रमे रहने के कारण परीक्षा में फ़ेल हो गये तो इन्होंने अपनी साइकिल और पुस्तकें बेचीं और बम्बई का टिकट ले लिया। इनके वो वतनी तो कहते थे कि ये अपनी माँ के गहने भी उड़ा लाये थे, लेकिन ये इस बात से इनकार करते हैं और सदा कहते हैं कि इन्हें बम्बई में नौकरी 'आॅफ़र हुई थी,' इसलिए चले आये।

अब बम्बई का भी सुन लीजिए। यहाँ आ कर इन्होंने सबसे पहले जो काम किया, वह यह था कि अपना नाम 'रुल्दू राम' के बदले 'महेश दीक्षित' रख लिया। फिर तय किया कि तीन बातों का सदा ध्यान रखेंगे – पहली यह कि रोज़ी चाहे जैसे कमायें, फ़िल्मी दुनिया में घुसने का निरन्तर प्रयास करेंगे। दूसरी यह कि जहाँ बैठेंगे, 'प्रेम वियोगिनी' के अपने अद्वितीय अभिनय का सविस्तार – डायलॉग को भाव-भंगिमाओं सहित सुना कर – उल्लेख करेंगे और इनसे पहले कॉलेज में जो नाटक हुए, उनका सारा श्रेय भी स्वयं ही लेंगे। तीसरी यह कि किसी फ़िल्म के डायरेक्टर अथवा प्रोड्यूसर के निकट पहुँचने का सतत प्रयास करेंगे। आदमी ये तेज हैं। एक के बाद एक – इन्होंने कई नौकरियाँ कीं। कपड़े की एक बड़ी दुकान में सेल्ज़मैन हुए, सोडा-वाटर फ़ैक्टरी का सोडा और डेयरी फ़ार्म का दूध सप्लाई करते रहे। एक केमिस्ट के यहाँ कम्पाउण्डर और एक सेठ के यहाँ मुनीम भी रहे।

— इनमें से किसी नौकरी पर टिके क्यों नहीं ? मैंने अर्ज़ किया न कि अव्वल तो इन्हें किसी काम का अनुभव नहीं था, फिर वे नौकरियाँ इनके समय का अधिकांश भाग अपने लिए ले लेती थीं और ये अपने उद्देश्य में आगे न बढ़ पाते थे। वे नौकरियाँ इनके लिए साधन थीं, साध्य नहीं।

तभी जब इनकी मुनीमी खत्म हुई, अचानक इनके भाग्य ने ज़ोर मारा। ये एक प्रसिद्ध सिगरेट कम्पनी के प्रचार-विभाग में टूरिंग एजेण्ट हो गये। उन दिनों कभी आप इनसे मिलते तो इनकी गप्पों की हकीकत आप खुलती — बाँसों पर लगे सिगरेटों के विज्ञापन-चित्र हाथ में उठाये, कम्पनी के सिगरेटों की जय बुलाने वाले किराये के छोकरों के आगे-आगे, घण्टी बजाते हुए, ये बम्बई के तूल-अर्ज़ में घूमते और नाके पर खड़े हो कर नमूने के तौर पर लोगों को मुफ़्त सिगरेट बाँटते। इसी तरह घण्टी बजाते, कम्पनी के सिगरेटों की जय बुलाते ये रहमान दादा के दफ़्तर के सामने पहुँचे। जब इन्हें पता चला कि रहमान दादा फ़िल्मी स्टूडियो में पहुँचने की पहली सीढ़ी हैं तो उस दिन के सिगरेटों का सारा कोटा इन्होंने उन्हीं के दफ़्तर को भेंट कर दिया और इस तरह रहमान दादा का परिचय पा लिया।

— रहमान दादा का नाम आपने नहीं सुना ? यहाँ तो सारी बम्बई में उनके नाम का सिक्का चलता है। वे एक्स्ट्रा सप्लायर हैं, इतना परिचय उनका महत्व पूरी तरह प्रकट नहीं करता। यह और अर्ज़ कर दूँ कि वे एक्स्ट्रा सप्लायरों में प्रमुखतम हैं। यही नहीं, वे बड़े काम के आदमी हैं। 'दादा' का मतलब यू० पी० अथवा बंगाल में भाई होता है, लेकिन बम्बई की भाषा में 'दादा' गुण्डे को कहते हैं। रहमान दादा भी अपनी जवानी में बम्बई के प्रसिद्ध गुण्डे थे। अब यद्यपि उन्होंने गुण्डई छोड़ दी है, पर दबदबा उनका अब भी वही है। वे आप सेठों के बड़े काम के आदमी हैं। लगभग पाँच सौ एक्स्ट्रा उनके द्वारा बम्बई के विभिन्न फ़िल्मी स्टूडियो में काम पाते हैं, लेकिन किसी की मजाल है, जो उनके सामने आँख उठा जाय।

रहमान दादा का परिचय पा कर दीक्षित जी ने फ़िल्मी स्टूडियो का परिचय पाया और इस या उस फ़िल्म में मूक-एक्स्ट्रा के रूप में भीड़ का अंग बनने लगे। इनकी गप्पों पर आप न जाइए, मुझसे इनकी उस ज़माने की दिनचर्या सुनिए। — सुबह छै बजे उठते। रात कहीं काम करने से इन्हें सोने में देर हो जाती तो आठ बजे उठते (यों हैं मुर्ग़ा की बाँग के साथ उठने वाले जीव।) नहा-धो कर और कभी बिना नहाये, ये मलाड स्टेशन पहुँच जाते। पैसे होते तो एक-दो तोस या बिस्कुट लेते, नहीं सिंगल चाय का कप ले कर गाड़ी में जा बैठते और दादर आ उतरते। सबसे पहले खुदादाद सरकल में रहमान दादा के ऑफ़िस पहुँचते और पूछते कि इनके लिए कोई काम है या नहीं, फिर वहाँ से बस पकड़ कर ठीक साढ़े दस बजे कोलाबा में कम्पनी के दफ़्तर जा हाज़िरी बजाते और फिर दिन भर इस या उस इलाके में सिगरेटों का प्रचार करते, सड़कों की खाक छानते। यह कहने कि ज़रूरत नहीं कि अपना प्रोग्राम ये ऐसे बनाते कि दिन में किसी-न-किसी कम्पनी के स्टूडियो का चक्कर लगा सकें। इतनी मेहनत से जो कुछ पाते, उसका अधिकांश पत्रं-पुष्पं रहमान दादा की भेंट कर देते। इस पर भी ये कभी दो वाक्य बोलने का अवसर न पाते, यदि इनके भाग्य से एक रात सहसा बोलने वाला एक्स्ट्रा ऐक्टर ऐन शूटिंग के वक्त बीमार न हो जाता। तब चूँकि इन्होंने 'प्रेम वियोगिनी' के अपने सफल अभिनय का बड़ा रोब रहमान दादा पर जमा रखा था, इसलिए उन्होंने इनको उस भूमिका के लिए पेश कर दिया।

बोलने वाले एक्स्ट्रा का पार्ट चौकीदार का था। चौकीदार सेठ के बँगले पर पहरा दे रहा है कि कहानी का नायक, जिसे सेठ से बदला लेना अभीष्ट है, डाकू के भेस में आता है और सेठ के कमरे की छत पर दो-चार पत्थर फेंकता है। सेठ घबरा कर चौकीदार के पास आता है। तब चौकीदार कहता है — 'सेठ साहब घबराइए नहीं, जब तक दुर्जन की यह दोनाली कायम है, आपकी तरफ़ कोई आँख उठा कर भी नहीं देख सकता। जहाँ डाकुओं ने दुर्जन और उसकी दोनाली देखी कि उनकी रूह फ़ना हुई।'...लेकिन जब डाकू आते हैं तो चौकीदार सेठ के पीछे छिप जाता है।

दीक्षित जी को यह डायलॉग मिला तो खुशी के मारे इनका दिल धक्-धक् करने लगा। 'अजी यह डायलॉग क्या, प्रेम वियोगिनी में मैंने ऐसे कई डायलॉग इस तरह अदा किये कि सुनने वालों को आज तक याद हैं।' इन्होंने अपने दिल की धड़कन को यथा-सम्भव काबू में रख कर सचेत बेपरवाही से कहा और आध-पौन घण्टे में कम-से-कम दो सौ बार इस डायलॉग को रट लिया। लेकिन जब ये चौकीदार बने, सेट पर सेठ के सामने खड़े हुए, छोटी-बड़ी सभी रोशनियाँ इन पर केन्द्रित हुईं और डायरेक्टर ने कहा कि लाइट में देखते हुए अपने डायलॉग बोलो तो इनकी सिट्टी-पिट्टी कुछ ऐसी गुम हुई कि इन्हें कुछ भी याद न रहा। दसियों रिहर्सलों के बाद जब इन्हें डायलॉग याद हुआ तो रात आधी से ज़्यादा बीत चुकी थी; डायरेक्टर का दिमाग़ खराब हो गया था; सेठ की भूमिका में काम करने वाले अभिनेता की कमर दुखने लगी थी और स्टूडियो के कर्मचारी मन-ही-मन इन्हें गालियाँ दे रहे थे। आखिर जब डायरेक्टर ने यह समझ कर कि डायलॉग उन्हें याद हो गया है, कहा, "टेक !" और कैमरा चलने लगा तो जो कुछ ये बोले, वह यों था — "सेठ साहब घबराइए नहीं, जब तक दुर्जन की यह दोनाली कायम है, डाकुओं का कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता।"

अभी ये इतना ही कह पाये थे कि डायरेक्टर ने कहा, "कट !" और प्रोडक्शन सेक्रेटरी ने रहमान दादा को कोसना शुरू किया कि किस उल्लू के पट्ठे को कैमरे के सामने ला खड़ा किया है, जिसे एक वाक्य तक बोलने की तमीज़ नहीं।

यद्यपि निर्देशक चाहते थे कि सीन दूसरे दिन लिया जाय, लेकिन कम्पनी को दो हज़ार का नुकसान हो रहा था, इसलिए प्रोडक्शन सेक्रेट्री नहीं माने। बहरहाल जब दो-एक रीटेक के बाद सीन लिया गया तो जिस दृश्य से हास्य प्रस्तुत करना अभीष्ट था, उसे देख कर रोना आता था।

जहाँ तक रहमान दादा का सम्बन्ध है, ये उनके यहाँ फिर कभी नहीं गये, पर सौभाग्य से वह पिक्चर चल गयी। अब ये अपने चौकीदार के उस रोल का ऐसे ज़िक्र करते हैं, जैसे उस फ़िल्म की सफ़लता का एकमात्र कारण वही दृश्य था।

— लेकिन इस पर भी इन्हें इस बड़ी फ़िल्म कम्पनी में कैसे नौकरी मिल गयी? बस, यही तो साहब इनके ढीठपने का कमाल है। कोई दूसरा होता तो दूसरे दिन बम्बई से टिकट कटा लेता। लेकिन महेश दीक्षित उन आदमियों में से नहीं। लोग कहें इसे बेशर्मी, ये इसे साबत-कदमी कहते हैं। बदस्तूर डटे रहे। अब उन दिनों रहमान दादा ही से इनका सम्बन्ध नहीं टूटा, सिगरेट कम्पनी के दफ़्तर से भी इनका पत्ता कट गया था। लेकिन तब यह सिगरेटों का ब्लैक मार्केट करने लगे। जंग का ज़माना था। ऊँचे दर्जे के विदेशी सिगरेट नायाब थे। सिगरेटों का प्रचार करते-करते इन्होंने उन सब लोगों से राह-रस्म पैदा कर ली थी, जो सिगरेटों का ब्लैक करते थे। नौकरी छूटी तो ये भी वही धन्धा करने लगे। गोदियों पर जा कर वहाँ जहाज़ों में आने वाले अमरीकी सैनिकों से सस्ते दामों सिगरेट ख़रीद लाते और दुगनी-तिगुनी कीमतों पर फ़िल्मी ऐक्टरों, डायरेक्टरों और प्रोड्यूसरों को बेचते। इसी में इन्होंने एक डायरेक्टर को आठ-दस डिब्बे बढ़िया सिगरेट दे कर खुश कर लिया और कम्पनी के स्टूडियो में बाकायदा नौकर हो गये। लेकिन कण्ट्रोलर से पूछ देखिए। ये सिर्फ़ दो सौ रुपया पाते हैं। हीरो-वीरो नहीं, केवल एकस्ट्रा के रूप में नौकर हुए हैं।

नौकर तो हो गये, पर चांस इन्हें अभी तक नहीं मिला। और न ही इनके जीवन का क्रम बदला। पहले दिन भर बम्बई की सड़कें नापते थे, अब स्टूडियो की सड़कें, उसके बाग़ की रविशें और कमरों के फ़र्श नापते हैं। काम हो-न-हो, इन्हें समय पर स्टूडियो पहुँच जाना पड़ता है। दिन का कोई समय हो, आप इन्हें डायरेक्टर के ऑफ़िस में, मेकप-मैन के कमरे में, असिस्टेण्ट डायरेक्टरों की अर्दल में, म्यूज़िक रूम, प्रोजेक्शन रूम, कैण्टीन या कुंज में बातें करते देख सकते हैं। नये डायरेक्टरों अथवा ऐक्टरों से चिपके रहते हैं। इनकी बातों का विषय वही 'प्रेम-वियोगिनी' में इनका अद्वितीय अभिनय अथवा पहली ही फ़िल्म से अपनी ऐक्टिग की धाक जमा कर इस बड़ी कम्पनी में नौकरी पा जाना अथवा किसी डायरेक्टर द्वारा अगली फ़िल्म में हीरो बनाये जाने का वचन पाना होता है।

जब ये एक्स्ट्रा लोगों के साथ होते हैं तो बड़ी दून की लेते हैं। प्रायः वर्तमान फ़िल्मी नायकों की चुग़दीयत और ऐक्टर-ऐक्ट्रेसों की आलोचना करते

हुए उनके अभिनय की नितान्त असफलता का उल्लेख करते हैं और इस बात का सतत प्रयास करते हैं कि कम्पनी की नयी फ़िल्म में अव्वल तो हीरो, नहीं तो साइड हीरो का रोल इन्हें ज़रूर मिले। अपनी इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए निरन्तर उन लोगों के घर भी हाज़िरी बजाते हैं, जिन्हें ये चुग़द समझते हैं और निस्संकोच भाव से उनका छोटे-से-छोटा काम करने को तत्पर रहते हैं। इनके इस प्रयत्न के फलस्वरूप हर फ़िल्म के शुरू में प्रायः इनका टेस्ट होता है, पर जाने क्यों, ये अभी तक न हीरो बने हैं, न साइड हीरो। छोटे-मोटे दृश्यों में भीड़ का अंग ये अब भी बनते हैं और उस दृश्य को, जिसमें ये होते हैं, जा कर प्रोजेक्शन रूम में कई बार देखते हैं और जब फ़िल्म रिलीज़ होती है तो अपने मित्रों को ले जा कर दिखाते हैं। और —

इसी उम्मीद पर मीलों चले जाते हैं दीवाने
वो उट्ठा पर्दा-ए-महमल, वो निकला हाथ महमल से

के अनुरूप रोज़ नयी उम्मीद ले कर स्टूडियो आते हैं और निराश वापस जा कर सिंगल चाय का कप गले के नीचे उतार कर मलाड के अपने उसी झोपड़े में जा सोते हैं।

— आप इन्हें हीरो का रोल देंगे? आप कहते क्या हैं? आप निश्चय ही इनके नाक-नक्शे, डील-डौल और गप्पों से प्रभावित हो गये हैं। अजी साहब, मैं आपको खबरदार किये देता हूँ, आप रो देंगे। मैं सात बरस से इनके साथ हूँ और मैंने आपको एक बात भी ग़लत नहीं बतायी।

— जी मैं यहाँ क्या करता हूँ? मैं भी एक एक्सट्रा हूँ। लेकिन डायरेक्टर मेहरोत्रा अपनी अगली फ़िल्म में मुझे साइड हीरो का रोल दे रहे हैं। मैं तो बहुत पहले हीरो हो गया होता, लेकिन दुर्भाग्य से ऐन शूटिंग के वक्त बीमार हो गया। वह चौकीदार, जिसका पार्ट महेश दीक्षित को मिला, दुर्भाग्य से मैं ही था।

— मुझे क्या हो गया था? अब क्या बताऊँ? मैं मेकप किये सेट पर तैयार खड़ा था, डायरेक्टर ने लाइट्स ऑन करने का आदेश दे दिया था। वह सीन लेने का आदेश देने जा रहे थे कि मेरे पेट में ज़ोर का दर्द उठा। मेरे शत्रु कहते हैं कि मैं नर्वस हो गया था, लेकिन यह बिलकुल झूठ है। मुझे शूल-रोग ने आ घेरा था। इतनी पीड़ा मुझे कभी नहीं हुई। सच जानिए, रहमान दादा को आज तक इसका खेद है। मैं उनका चहेता एक्स्ट्रा हूँ। आप ज़रा मेरा टेस्ट तो ले कर देखिए!

१९५२ * *

तकल्लुफ़

******

"आयें जनाब शौक से घर आप ही का है।"

अपनी पत्नी को चाय और नाश्ते की सामग्री के सम्बन्ध में सब कुछ समझा कर रशीद भाई बालकनी में आये। उन्होंने दरी की सिलवट निकाली; तिपाई के रंगीन कवर को झाड़ कर फिर बिछाया; बेंत की कुर्सियों की गद्दियाँ ठीक से रखीं; दीवार पर टँगे चित्रों के फ्रेम साफ़ किये; तनिक पीछे हट कर बालकनी की उस सीधी-सादी, लेकिन सुरुचि-पूर्ण सजावट पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डाल कर सन्तोष की साँस ली; कुर्सी में धँस कर पाँव रेलिंग पर पसार दिये और डायरेक्टर कादिर और उनकी बेगम के आने की प्रतीक्षा करने लगे।

रशीद भाई मँझले कद के मोटे आदमी थे। मोटे थे, लेकिन थलथल-पिलपिल नहीं। उनके गाल, गर्दन, बाज़ू, पेट, रान, पिंडलियाँ – सब उनके कद को देखते हुए, माँस से भरी थीं, परन्तु माँस कहीं भी लटकता न था – न उनके फूले-फूले गालों पर, न गर्दन पर, न पेट पर, न और कहीं। कदाचित यही कारण था कि अपने मोटापे के बावजूद उनमें काम करने की अपूर्व शक्ति थी। वे फ़िल्मों के लिए गीत लिखते थे; कहानी, सम्वाद और सिनारियो लिखते थे; अवसर मिलने पर अभिनय भी कर लेते थे और इन सब के लिए जिस दौड़-धूप की आवश्यकता होती है, उससे भी जी न चुराते थे। लेकिन इस सब निष्ठा और परिश्रम के बावजूद (उनका गुज़ारा चाहे चलता रहा हो) उन्हें ख्याति पाने का कोई समुचित संयोग न मिला था। उनकी

प्रतिभा (ऐसा उनका विचार था) स्टण्ट फ़िल्मों की दलदल में खत्म हुई जा रही थी और वे निरन्तर उसे बचाने के प्रयास में लगे रहते थे। उनकी बड़ी साध थी कि उन्हें किसी 'सोशल पिक्चर' की कहानी (न हो तो सम्वाद ही) लिखने का अवसर मिल जाय। एक बार अवसर मिले तो उन्हें आशा थी कि वे स्टण्ट की दलदल से सदा के लिए निकल जायेंगे। फिर....फिर....उनके स्वप्न सिनेमा की दुनिया में काम करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के सपनों की भाँति डायरेक्टरी से होते हुए प्रोड्यूसरी के शिखर पर जा पहुँचते थे।

दरवाज़े पर दस्तक हुई। रशीद भाई उचक कर उठे, जैसे उन्हें स्प्रिंग लगा हो। होंटों पर वे हल्की-सी अभिवादनोचित, खुशामद-भरी मुस्कान ले आये और धड़कते हुए दिल के साथ उन्होंने दरवाज़ा खोला। वे आदाब अर्ज़ कहते हुए, सिर को झुकाने ही वाले थे कि उनकी नज़र फलवाले पर गयी, जिसने उन्हें देख कर न जाने कण्ठ के किस भाग से आवाज़ निकाली – "सन्तरा-केला पाइजे साब ?"[1]

रशीद भाई की वह मुस्कान, जिसमें न जाने स्वागत की कितनी चीनी और खुशामद का कितना मस्का[2] मिला था, निमिष भर में उनके होंटों से विलुप्त हो गयी। एकदम कठोर हो कर गैलरी में से रसोई-घर की ओर देखते हुए उन्होंने कर्कश स्वर में नौकर को आवाज़ दी – "छोकरा, मेम साहब से बोलो, फल-वल माँगता हो तो थोड़ा ले लें।" और दरवाज़ा बन्द करके पूर्ववत कुर्सी में जा धँसे।

०

डायरेक्टर कादिर से उनकी भेंट मिस शमीम के जन्म-दिवस के उपलक्ष में दी जाने वाली एक पार्टी में हुई थी। डायरेक्टर कादिर 'रत्न लिमिटेड' के सफल निर्देशक थे। उन्होंने जीवन का आरम्भ तो प्रोफ़ेसरी से किया था, पर उन्हें सफलता फ़िल्म-लाइन में मिली थी। चार हिट फ़िल्में उनकी क्रेडिट पर थीं, और अब उनकी माँग हर जगह थी। पिछले वर्ष अचानक यक्ष्मा से पीड़ित हो कर वे मिराज के सैनेटोरियम में चले गये थे। अब कुछ स्वस्थ हो कर लौटे थे तो उनके सामने एक बहुत बड़ा प्रोग्राम था, बीमारी ही बीमारी में वे तीन फ़िल्मों की कहानियाँ और सिनारियो लिख लाये थे और आते ही 'बॉम्बे टॉकीज़' से उनका कॉण्ट्रैक्ट भी हो गया था।

पहली भेंट में रशीद भाई ने उनकी पहले की फ़िल्मों की विवेचनात्मक प्रशंसा करके उन पर इतना प्रभाव डाला कि वे अपनी पत्नी-सहित उनके यहाँ चाय पर आने को तैयार हो गये थे। डायरेक्टर कादिर की स्वीकृति पर रशीद भाई इतने

१. सन्तरा-केला चाहिए सरकार। २. मक्खन।

प्रसन्न हुए थे कि उल्लास और आवेग के मारे उन्हें उस रात नींद न आयी थी। बार-बार वे अपनी पत्नी को चाय के सिलसिले में आदेश देते रहे थे।

'अगर वे न आये तो....' वहीं कुर्सी पर बैठे-बैठे सहसा रशीद भाई के मन में खयाल आया और उनका दिल धक्क से रह गया। तभी दरवाज़े पर दस्तक हुई। रशीद भाई उठे। सम्भावित निराशा ने उनके होंटों से मुस्कान छीन ली थी, पर अब भी उत्सुकता वहाँ बनी हुई थी। दरवाज़ा खोला तो देखा, सामने डायरेक्टर कादिर और उनकी बेगम खड़ी हैं। रशीद भाई सहसा घबरा गये। सिर को झुका कर 'आदाब अर्ज़' करना भूल गये। हाथों को मलते और दाँत निपोरते हुए, हिहिं-हिहिं करते, 'आइए, आइए' कहते, वे उन्हें बालकनी में ले आये और कुर्सियों पर प्रतिष्ठित कर दिया। फिर वे अन्दर गये, और अपनी बेगम को ले आये और एक-दूसरे से परिचय कराया। रशीद भाई की बेगम उन्हीं की तरह दोहरे शरीर की हँसमुख स्त्री थी। वह हँसती हुई बेगम कादिर के सामने आ बैठी। रशीद भाई ने बात चलाने की ग़रज़ से पूछा, "कहिए, अब आपकी तबीयत तो ठीक है ?"

"ठीक तो है," डायरेक्टर कादिर बोले, "लेकिन अगर मिस शमीम या हम जल्दी ही कहीं दूसरी जगह न गये तो यकीनन फिर खराब हो जायगी।"

रशीद भाई ने आश्चर्य से मुँह बा दिया। क्षण भर बाद बोले, "पर शमीम वाला मकान तो आप ही का है ?"

अपनी गम्भीरता के बावजूद डायरेक्टर कादिर हँस दिये। बोले, "वह तो है, पर उसे निकाला तो नहीं जा सकता। मकान की कितनी किल्लत है, तुम जानते हो। मैं तो बीमारी में भी बराबर किराया देता और मकान में किसी को फटकने न देता, लेकिन शमीम मुझे देखने मिराज गयी थी। नयी-नयी लाहौर से आयी थी। मकान की उसे बड़ी दिक्कत थी। मैंने कहीं भूले से कह दिया कि अगर तुम्हें कहीं मकान न मिला तो तुम मेरे यहाँ ही रह लेना। बस उसी तकल्लुफ़ की सज़ा भुगत रहा हूँ। वह मिराज से मुझे देख कर लौटी तो मेरे ही मकान में चली आयी और आज तक वहीं डटी है।"

इस मरहले पर बेगम रशीद उठ गयीं कि मेहमानों के लिए चाय का आयोजन करें। रशीद भाई ने पूछा :

"लेकिन मिस शमीम ने आपके लिए कुछ इन्तज़ाम तो कर दिया होगा ?"

अबकी उत्तर बेगम कादिर ने दिया। वे छरहरे बदन और मँझले कद की गम्भीर, लेकिन स्फूर्तिशील स्त्री थीं। बी० ए०, बी० टी० थीं। डायरेक्टर कादिर यदि अब भी प्रोफ़ेसर दिखायी देते थे तो वे भी किसी स्कूल की हेडमिस्ट्रेस से कम न लगती थीं।

"इन्तज़ाम कर दिया !" उन्होंने व्यंग्य के तीखे स्वर में कहा, "तीन कमरों के फ़्लैट में से वह हमें क्या दे देती ? एक कमरा है। उसमें क्या आराम मिल सकता है ? ये तो बीमार हैं। इन्हें अलग एक कमरा चाहिए !"

"एक कमरे से ज़्यादा न भी हो," डायरेक्टर कादिर ने अपने गंजे होते हुए सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "पर सुकून का अहसास तो होना चाहिए। वहाँ तो लगता है जैसे आठों पहर मछली-मण्डी में बैठे हैं !"

"हा-हा, ही-ही, हू-हू बारहो घण्टे मची रहती है।" बेगम कादिर ने रद्दा जमाया, "शमीम ने तो यहाँ बम्बई आ कर वह रंग जमाया है कि सारा-का-सारा बम्बई उसका दीवाना दिखायी देता है। नाच, गाना, पार्टियाँ, फ़्लश और रम्मी ड्राइवें — किसी पल भी तो चैन नहीं। इन्हें काम भी करना हुआ। उसका क्या, सेट पर गयी और चार लफ़्ज़ ग़लत-सलत बोल आयी। मुसीबत तो इनकी है, जिन्हें कहानी, सिनारियो, शॉट, डायलॉग, कैमरे और साउण्ड तक का खयाल रखना पड़ता है। इन सब बातों के लिए कुछ तो सोच दरकार है। और सोचने लायक शान्ति वहाँ पल भर को भी मयस्सर नहीं।"

डायरेक्टर कादिर चुप रहे। केवल उनकी आकृति पर विवशता की रेखाएँ और भी गहरी हो गयीं। उस समय रशीद भाई के जी में आयी कि क्या न कर दें ! कि सम्भव हो तो इतना फूलें, इतना फूलें कि एक मकान बन जायें, जिसमें कादिर साहब अपने कुटुम्ब समेत आ जायें और उनकी परेशानी दूर हो जाय।

"मेरे पास तो यही अढ़ाई कमरे हैं," वे बोले, "अगर इस बारजे को कमरा कहा जाय, नहीं तो मैं आपसे यही कहता कि आप यहीं चले आयें।"

"आपकी इस मेहरबानी का शुक्रिया !" मिसेज़ कादिर मुस्करा कर बोलीं, "बात जगह की नहीं, बात सुकून-इत्मीनान की है। आदमी अच्छे हों, तमीज वाले हों तो कमरा छोड़, कोठरी में गुज़ारा किया जा सकता है। पर इसका क्या किया जाय कि ऊँट की कोई भी कल सीधी नहीं !" (मिस शमीम लम्बी, ढीली-ढाली युवती थी। ऊँट से उसकी उपमा देने पर श्रीमती कादिर मुस्करायीं।) "यों तो कहने को जनाब ने डाइनिंग-टेबल सजा रखा है, पर टेबल-मैनर्ज़ की अबजद[1] का भी इल्म नहीं। कपड़े पहनती है तो मालूम होता है, जैसे अभी कॉलेज से डिग्री ले कर निकली है, पर खाने की मेज़ पर देहातिनों को भी मात करती है। पानी पीते और खाना खाते समय वह आवाज़ करती है कि खुदा की पनाह ! सालन से हाथ और मुँह खराब कर लेती है। और फिर जाने कौन-कौन तबलची, सारंगी-सितार वाले और नौ-दौलतिये सेठ खाने की मेज़ पर आ बैठते हैं, और इस तरह खाते हैं कि मतली होने लगती है। कभी-कभी तो वह हू-हक मचती है कि जी चाहता है — दीवार से सिर फोड़ लें !"

---

१. अलिफ़, बे, जीम, दाल (हिन्दी में क, ख, ग)।

०

तभी बेगम रशीद के पीछे-पीछे नौकर चाय और नाश्ते का सामान ले कर आया और बेगम रशीद अपनी सहज-सरल मुस्कान के साथ अतिथियों को चाय पिलाने लगी। रशीद भाई ने इस अवसर का लाभ उठाते हुए अपनी बात छेड़ी कि स्वयं उन्हें मकान की कैसी दिक्कत थी, किस तरह जब बम्बई में जहाज़ फटा और जापानी आक्रमण के भय से लोग भागने लगे तो समुद्र के किनारे यह सुन्दर फ़्लैट उन्हें मिल गया। फ़्लैट की बात करते-करते उन्होंने फ़िल्म-सम्बन्धी अपने अनुभवों की बात चला दी और बताया कि उन्होंने किस-किस फ़िल्म में काम किया, किस-किस की कहानी, सम्वाद तथा गीत लिखे। बेगम कादिर इस विषय को दिलचस्प न पा कर, एक प्याली चाय पीने के बाद, बेगम रशीद के साथ उनका फ़्लैट देखने गयीं और एकान्त को उपयुक्त समझ, डायरेक्टर कादिर की प्रतिभा के प्रति अपनी श्रद्धा का बखान करते हुए, रशीद भाई ने अपना मन्तव्य प्रकट किया कि यदि डायरेक्टर कादिर उन्हें अपने साथ काम करने का अवसर दें तो उनका फ़िल्मी जीवन सफल हो जाय। आदि....आदि....

डायरेक्टर कादिर बड़ी गम्भीरता से, एक अगम-सी मुस्कान होंटों पर लिये, रशीद भाई की बातें सुनते रहे और अन्त में उन्होंने – 'क्यों नहीं, क्यों नहीं, मैं ज़रूर आपकी मदद करूँगा, आप कोई कहानी लिख कर मुझे दिखाइएगा'-जैसा अनिश्चित-सा वादा किया और अपनी बेगम को आवाज़ दी कि देर हो रही है, प्रोड्यूसर वाडीलाल मिलने के लिए आने वाले हैं, जल्द चलना चाहिए।

बेगम कादिर वापस बालकनी में आयीं तो उनका मुख खिला पड़ता था।

"वाह! आपका फ़्लैट तो बड़ा सुन्दर और खुला है!" उन्होंने रशीद भाई से कहा, "जो खुश हो गया देख कर!"

रशीद भाई ने दोनों हाथ फैला कर ऐक्टरों के-से अन्दाज़ में कहा, "कहिए, क्या इरशाद है?"

निमिष भर के लिए बेगम कादिर चुप उनकी ओर देखती रहीं, और फिर उनकी बात का मतलब समझ कर हँसीं।

"यह सब आपकी मेहरबानी है!" उन्होंने कहा, "मैं तो सिर्फ़ फ़्लैट की तारीफ़ कर रही थी।"

"नहीं, आपको पसन्द हो तो आ जाइए। हम तो आपके साथ बालकनी में रह कर भी खुश होंगे। और यहाँ आपको और तकलीफ़ चाहे हो, दिमाग़ी परेशानी नहीं होगी। सच!"

बेगम कादिर उत्तर में केवल कृतज्ञता से हँसीं। सीढ़ियाँ उतरते-उतरते उन्होंने अपने पति से कहा कि अपनी नयी पिक्चर में रशीद भाई से डायलॉग क्यों नहीं लिखवाते। और जब डायरेक्टर कादिर टैक्सी में सवार हुए तो हाथ मिलाते हुए, उन्होंने रशीद भाई से वादा कर दिया कि अभी जब वे प्रोड्यूसर वाडीलाल से मिलेंगे तो डायलॉग के लिए रशीद भाई का नाम तजवीज़ करेंगे।

रशीद भाई जब उन्हें छोड़ कर वापस आये तो एक-एक के बदले, दो-दो, तीन-तीन सीढ़ियाँ चढ़ गये। आते ही उन्होंने उल्लास के मारे अपनी बेगम को आलिंगन में ले कर भींच लिया और फिर यह खबर देते हुए कि खुदा ने चाहा तो डायरेक्टर कादिर की आगामी पिक्चर के डायलॉग वे ही लिखेंगे, उन्होंने अपनी इस कार्य-पटुता की दाद चाही।

"तुम सोच ही नहीं सकतीं, किस सफ़ाई से मैंने डायरेक्टर कादिर से काम का वादा ले लिया। फ़िल्मी दुनिया में सिर्फ़ काबलियत को कोई नहीं पूछता। यह राज़ मैंने बरसों की ठोकरें खाने के बाद जाना है। काबलियत के साथ चतुराई और चाबुकदस्ती की ज़रूरत है। बल्कि कई तो ऐसे भी हैं, जो काबिल नहीं, पर होशियार और चतुर हैं। अब तुम्हीं कहो, अगर मैंने बेगम कादिर को यहाँ आ कर रहने की दावत न दी होती तो क्या मुझे यह काम मिल जाता? कभी नहीं! लेकिन मैं जानता हूँ कहाँ, किस वक्त, क्या कहना चाहिए! वे लोग अपना इतना अच्छा फ़्लैट छोड़ कर यहाँ क्या आयेंगे, लेकिन मेरी इस पेशकश ने उन पर असर तो किया और इसका फल तो मुझे अभी मिल गया...."

और रशीद भाई अपनी बेगम को अपनी इस कार्य-पटुता और चाबुकदस्ती पर विस्मित छोड़ कर, अपने जोश में अपनी कम्पनी के प्रोड्यूसर से मिलने चल दिये कि उस पर इस बात का रोब ग़ालिब करके अगली पिक्चर के लिए उससे अच्छा कॉण्ट्रैक्ट प्राप्त कर लें।

०

रात को रशीद भाई लौटे तो हल्की-सी पिये हुए थे। अपने प्रोड्यूसर से उनकी भेंट न हुई तो उन्होंने अपने स्टण्ट फ़िल्म के हीरो शहबाज़ को जा पकड़ा था। उन्हें कुछ साधारण से अधिक प्रसन्न देख कर जब शहबाज़ ने कारण जानना चाहा तो उससे इस बात की शपथ ले कर कि वह किसी को न बतायेगा, उन्होंने उसके कान में कहा कि वे डायरेक्टर कादिर की अगली पिक्चर के लिए डायलॉग लिखने वाले हैं। और फिर बिना शहबाज़ के कहे, उन्होंने उसे वादा दे दिया कि वे उसे अपनी पिक्चर में अव्वल तो हीरो, नहीं तो सेकिण्ड-हीरो अथवा विलेन का रोल अवश्य दिलाने की कोशिश करेंगे। इसी खुशी में शहबाज़ उन्हें 'दादर-बार' में ले गया और स्कॉच के दो-दो 'छोटे पेग' दोनों ने चढ़ाये। शहबाज़ का हाथ तंग था, नहीं तो रशीद भाई मित्रों के सहारे घर पहुँचते। लेकिन उसने रशीद भाई को एक सप्ताह बाद 'दादर-बार' ही में मिलने की दावत दी थी और विश्वास दिलाया था कि इस बीच में वह अव्वल तो स्कॉच, नहीं तो ड्राई जिन की एक बोतल का अवश्य ही प्रबन्ध कर लेगा।

०

तभी बेगम रशीद के पीछे-पीछे नौकर चाय और नाश्ते का सामान ले कर आया और बेगम रशीद अपनी सहज-सरल मुस्कान के साथ अतिथियों को चाय पिलाने लगी। रशीद भाई ने इस अवसर का लाभ उठाते हुए अपनी बात छेड़ी कि स्वयं उन्हें मकान की कैसी दिक्कत थी, किस तरह जब बम्बई में जहाज़ फटा और जापानी आक्रमण के भय से लोग भागने लगे तो समुद्र के किनारे यह सुन्दर फ़्लैट उन्हें मिल गया। फ़्लैट की बात करते-करते उन्होंने फ़िल्म-सम्बन्धी अपने अनुभवों की बात चला दी और बताया कि उन्होंने किस-किस फ़िल्म में काम किया, किस-किस की कहानी, सम्वाद तथा गीत लिखे। बेगम कादिर इस विषय को दिलचस्प न पा कर, एक प्याली चाय पीने के बाद, बेगम रशीद के साथ उनका फ़्लैट देखने गयीं और एकान्त को उपयुक्त समझ, डायरेक्टर कादिर की प्रतिभा के प्रति अपनी श्रद्धा का बखान करते हुए, रशीद भाई ने अपना मन्तव्य प्रकट किया कि यदि डायरेक्टर कादिर उन्हें अपने साथ काम करने का अवसर दें तो उनका फ़िल्मी जीवन सफल हो जाय। आदि....आदि....

डायरेक्टर कादिर बड़ी गम्भीरता से, एक अगम-सी मुस्कान होंटों पर लिये, रशीद भाई की बातें सुनते रहे और अन्त में उन्होंने – 'क्यों नहीं, क्यों नहीं, मैं ज़रूर आपकी मदद करूँगा, आप कोई कहानी लिख कर मुझे दिखाइएगा'-जैसा अनिश्चित-सा वादा किया और अपनी बेगम को आवाज़ दी कि देर हो रही है, प्रोड्यूसर वाडीलाल मिलने के लिए आने वाले हैं, जल्द चलना चाहिए।

बेगम कादिर वापस बालकनी में आयीं तो उनका मुख खिला पड़ता था।

"वाह! आपका फ़्लैट तो बड़ा सुन्दर और खुला है!" उन्होंने रशीद भाई से कहा, "जो खुश हो गया देख कर!"

रशीद भाई ने दोनों हाथ फैला कर ऐक्टरों के-से अन्दाज़ में कहा, "कहिए, क्या इरशाद है?"

निमिष भर के लिए बेगम कादिर चुप उनकी ओर देखती रहीं, और फिर उनकी बात का मतलब समझ कर हँसीं।

"यह सब आपकी मेहरबानी है!" उन्होंने कहा, "मैं तो सिर्फ़ फ़्लैट की तारीफ़ कर रही थी।"

"नहीं, आपको पसन्द हो तो आ जाइए। हम तो आपके साथ बालकनी में रह कर भी खुश होंगे। और यहाँ आपको और तकलीफ़ चाहे हो, दिमाग़ी परेशानी नहीं होगी। सच!"

बेगम कादिर उत्तर में केवल कृतज्ञता से हँसीं। सीढ़ियाँ उतरते-उतरते उन्होंने अपने पति से कहा कि अपनी नयी पिक्चर में रशीद भाई से डायलॉग क्यों नहीं लिखवाते। और जब डायरेक्टर कादिर टैक्सी में सवार हुए तो हाथ मिलाते हुए, उन्होंने रशीद भाई से वादा कर दिया कि अभी जब वे प्रोड्यूसर वाडीलाल से मिलेंगे तो डायलॉग के लिए रशीद भाई का नाम तजवीज़ करेंगे।

रशीद भाई जब उन्हें छोड़ कर वापस आये तो एक-एक के बदले, दो-दो, तीन-तीन सीढ़ियाँ चढ़ गये। आते ही उन्होंने उल्लास के मारे अपनी बेगम को आलिंगन में ले कर भींच लिया और फिर यह ख़बर देते हुए कि खुदा ने चाहा तो डायरेक्टर कादिर की आगामी पिक्चर के डायलॉग वे ही लिखेंगे, उन्होंने अपनी इस कार्य-पटुता की दाद चाही।

"तुम सोच ही नहीं सकतीं, किस सफ़ाई से मैंने डायरेक्टर कादिर से काम का वादा ले लिया। फ़िल्मी दुनिया में सिर्फ़ काबलियत को कोई नहीं पूछता। यह राज़ मैंने बरसों की ठोकरें खाने के बाद जाना है। काबलियत के साथ चतुराई और चाबुकदस्ती की ज़रूरत है। बल्कि कई तो ऐसे भी हैं, जो काबिल नहीं, पर होशियार और चतुर हैं। अब तुम्हीं कहो, अगर मैंने बेगम कादिर को यहाँ आ कर रहने की दावत न दी होती तो क्या मुझे यह काम मिल जाता? कभी नहीं! लेकिन मैं जानता हूँ कहाँ, किस वक्त, क्या कहना चाहिए! वे लोग अपना इतना अच्छा फ़्लैट छोड़ कर यहाँ क्या आयेंगे, लेकिन मेरी इस पेशकश ने उन पर असर तो किया और इसका फल तो मुझे अभी मिल गया...."

और रशीद भाई अपनी बेगम को अपनी इस कार्य-पटुता और चाबुकदस्ती पर विस्मित छोड़ कर, अपने जोश में अपनी कम्पनी के प्रोड्यूसर से मिलने चल दिये कि उस पर इस बात का रोब ग़ालिब करके अगली पिक्चर के लिए उससे अच्छा कॉण्ट्रैक्ट प्राप्त कर लें।

०

रात को रशीद भाई लौटे तो हल्की-सी पिये हुए थे। अपने प्रोड्यूसर से उनकी भेंट न हुई तो उन्होंने अपने स्टण्ट फ़िल्म के हीरो शहबाज़ को जा पकड़ा था। उन्हें कुछ साधारण से अधिक प्रसन्न देख कर जब शहबाज़ ने कारण जानना चाहा तो उससे इस बात की शपथ ले कर कि वह किसी को न बतायेगा, उन्होंने उसके कान में कहा कि वे डायरेक्टर कादिर की अगली पिक्चर के लिए डायलॉग लिखने वाले हैं। और फिर बिना शहबाज़ के कहे, उन्होंने उसे वादा दे दिया कि वे उसे अपनी पिक्चर में अव्वल तो हीरो, नहीं तो सेकिण्ड-हीरो अथवा विलेन का रोल अवश्य दिलाने की कोशिश करेंगे। इसी खुशी में शहबाज़ उन्हें 'दादर-बार' में ले गया और स्कॉच के दो-दो 'छोटे पेग' दोनों ने चढ़ाये। शहबाज़ का हाथ तंग था, नहीं तो रशीद भाई मित्रों के सहारे घर पहुँचते। लेकिन उसने रशीद भाई को एक सप्ताह बाद 'दादर-बार' ही में मिलने की दावत दी थी और विश्वास दिलाया था कि इस बीच में वह अव्वल तो स्कॉच, नहीं तो ड्राई जिन की एक बोतल का अवश्य ही प्रबन्ध कर लेगा।

०

समुद्र में ज्वार आ रहा था। लहरें बढ़ी चली आतीं और तट से लौटने वाली लहरों से टकरा कर, दोनों ओर दूर तक झाग की दीवार-सी बनाती चली जाती थीं। आकाश पर तारों में चाँद की एक फाँक अपने प्रकाश से समुद्र की विशाल छाती पर आकाश-गंगा-सा ज्योति-पथ बना रही थी।

रशीद भाई के मस्तक में हल्का-हल्का सरूर छा रहा था। उनका जी चाहता था कि उस धीमे-धीमे उजियाले में सागर-तट पर घूमें; भीगे, रेतीले किनारे पर खड़े दृष्टि-सीमा तक समुद्र को आलोकित करते उस ज्योति-पथ को निहारें; दादर के पानी को समुद्र में गिराने वाले ढके हुए नाले की पक्की गोलाई पर जा बैठें और नीचे बढ़े आते समुद्र की लहरों के ऊपर पाँव पसार लें—यहाँ तक कि नाले की गोलाई से टकराने वाली लहरों के छींटे कभी-कभी उनके पैरों पर आ पड़ें।

तभी सागर-तट से ठण्डी हवा का एक झोंका आया। रशीद भाई को अपने नर्म-गर्म बिस्तर की याद हो आयी। बिस्तर के साथ ही उन्हें अपनी बेगम के नर्म-गर्म, गदराये शरीर का खयाल आया और समुद्र-तट पर घूमने का मोह छोड़, वे एक-एक के बदले दो-दो, तीन-तीन सीढ़ियाँ चढ़ते हुए ऊपर पहुँचे। और उन्होंने एक उँगली बढ़ा कर शरारत से लम्बी घण्टी बजायी।

उनका खयाल था कि फ़र्श पर लटकते हुए घाघरे-ऐसे गुजराती ड्रेस को फर-फराती और यौवन के ज्वार को दुपट्टे की तहों से रोकने का विफल प्रयास करती, झींकती, पर मुस्कराती उनकी पत्नी आ कर किवाड़ खोलेगी और मीठे, रोष-भरे स्वर में कहेगी—"बस करो, बस करो! क्यों बच्चों की तरह घण्टी बजाये जा रहे हो? बहरी तो नहीं हूँ!" लेकिन रशीद भाई भौंचक्के-से एक कदम पीछे हट गये, जब उनकी पत्नी के बदले बेगम कादिर ने दरवाज़ा खोला और नंगी तलवार की-सी दृष्टि से उन्हें चीरते हुए-से, मृदुल होने का असफल प्रयास-सा करते हुए, कर्कश स्वर में कहा, "ओह, आप! मैं तो समझी, कोई आवारा छोकरा परेशान कर रहा है! क्या रोज़ इसी तरह घण्टी बजाते हैं आप?" और फिर स्वर को मृदुल बना कर, रशीद भाई को अन्दर आने का मार्ग देते और हँसते हुए उन्होंने कहा, "हम तो आ गये। स्टूडियो में प्रोड्यूसर वाडीलाल से आपके बारे में तय करते हुए घर पहुँचे तो एक बेपनाह शोर मचा हुआ था। जाने कहाँ-कहाँ के लोग मिस शमीम को उसकी सालगिरह पर ('देर आयद दुरुस्त आयद' पर यकीन रखते हुए) मुबारकबाद देने आये हुए थे। ये ठहरे बीमार। और फिर मेरा तो हू-हक में दम घुटने लगता है। मैंने टैक्सी मँगायी, उसमें ज़रूरी सामान रखा और यहाँ आ गयी। आपको तकलीफ़ तो होगी, लेकिन...."

लेकिन इसी बीच में रशीद भाई का सरूर खत्म हो चुका था। सोचने की शक्ति वापस आ गयी थी; पीछे हटा हुआ कदम आगे आ गया था और कल्पना

की उड़ती हुई पतंग ने यथार्थ का झटका खा कर धरती को छू लिया था। खिसियानी-सी हँसी हँसते हुए उन्होंने कहा, "हिं-हिं, तकलीफ़ कैसी? मैंने तो सुबह ही कहा था कि आपका घर है....हिं-हिं, आप ही का घर है। सुरैया कहाँ है? (सुरैया रशीद भाई की पत्नी का नाम था) खाना-वाना खाया आप लोगों ने?"

"हम तो देर तक आपकी राह देखते रहे। लेकिन (यहाँ बेगम क़ादिर ने बड़े धीमे स्वर में कहा) आप जानते हैं, वो बीमार आदमी हैं, उन्हें समय पर खाना और सोना चाहिए। हमने तो खा लिया। बेगम रशीद किचन में होंगी।" और रशीद भाई का मुँह किचन की ओर मोड़ कर उन्होंने कहा, "अभी हम इसी कमरे में जम गये हैं, आप खाना खाइए, मैं ज़रा उनके सोने का इन्तज़ाम करूँ। फ़िक्र न कीजिए, मैं तकल्लुफ़ में यक़ीन नहीं रखती। मैंने ज़रूरत की सब चीज़ें ले ली हैं, ले भी लूँगी और आपको तकलीफ़ देने से हिचकिचाऊँगी भी नहीं।"

और यह कह कर वे अन्दर के कमरे में चली गयीं।

०

एक ही सप्ताह में रशीद भाई को मालूम हो गया कि बेगम कादिर उन लोगों में से कदापि नहीं, जो कहते कुछ हैं, और करते कुछ हैं। वे जो कहती हैं, अक्षरशः वही करती हैं। उन सात दिनों में उन्होंने ज़रा भी तकल्लुफ़ से काम नहीं लिया और रशीद भाई और उनकी बेगम को कष्ट देने में तनिक भी नहीं हिचकिचायीं।

दोनों कमरों में से जो बड़ा था, वह तो उन्होंने आते ही, रशीद भाई की अनुपस्थिति में सँभाल लिया था। रशीद भाई का सामान और बिस्तर आदि उन्होंने अपनी देख-रेख में मध्य के कमरे में, जो बेगम रशीद का शृंगार-गृह था, सजा दिया था। उस कमरे को इस तरह सजाने में कि उसमें दो पलँग भी आ जायँ और ज़नाना और मरदाना ड्रेसिंग-टेबिल भी, और वह बुरा भी न लगे, उन्होंने बेगम रशीद की पूरी-पूरी सहायता की थी। रशीद भाई की प्रतीक्षा किये बिना बड़ी बेतकल्लुफ़ी से खाना पकवाया था। कितने अण्डों का आमलेट और हलवा रहे, और गोश्त के साथ कौन-सी तरकारी सालन में रहे, यह सब बताने में किसी संकोच से काम न लिया था। बल्कि अगले दिन से उनके पति को कितनी बार दूध, अण्डे और सूप चाहिए; इसका 'मीनू' भी बना दिया था (फेफड़े की तकलीफ़ में खाने ही का महत्त्व जो है, इसलिए!) नौकर को आदेश दे कर अपने कमरे ही में खाना मँगाया, खाया और पति के सोने की व्यवस्था करने में निमग्न हो गयी थीं।

यहाँ तक तो खैर रशीद भाई को कुछ अधिक कष्ट नहीं हुआ। पहले झटके के बाद जब वे सँभले तो डायरेक्टर कादिर को अपने घर में पा कर और यह जान कर कि उन्होंने न केवल अपने प्रिय डायरेक्टर को भारी मानसिक कष्ट से

छुटकारा दिलाया है, बल्कि स्वयं भी वह अवसर पाया है, जिसकी सुखद कल्पना वर्षों से वे करते आ रहे थे, उन्हें गौरव और गर्व की अनुभूति हुई और उन्होंने रसोई-घर में घुटनों में सिर दिये बैठी अपनी बेगम को बीसियों युक्तियाँ दे कर समझा दिया कि डायरेक्टर कादिर का उनके घर आना उनके लिए हर तरह से लाभदायक है।

लेकिन यहीं से वह मानसिक कष्ट, जिससे उन्होंने डायरेक्टर कादिर की जान बचायी थी, उनकी जान का लागू हो गया।

वे रात में अपनी पत्नी के साथ लेटे हुए थे। समझते थे कि उन्होंने अपनी कार्य-पटुता से डायरेक्टर कादिर को फाँसा है, पर अब उन्हें मालूम हुआ कि बेगम कादिर ने अपनी कार्य-पटुता से उनको फाँस लिया है। यह खयाल आते ही अपनी मूर्खता पर वे एक ठहाका मार कर हँस दिये। तभी अन्दर के कमरे से टिक-टिक हुई। उचक कर बेगम रशीद अपने पलँग पर जा बैठीं और उन्होंने कहा — "आइए!"

और होंटों पर उँगली रखे, बेगम कादिर दबे पाँव अन्दर दाखिल हुईं। सरगोशी के स्वर में उन्होंने कहा, "खुदा के लिए धीरे हँसिए। अभी बड़ी मुश्किल से सिर में तेल मल कर मैंने उन्हें सुलाया है!"

फिर किवाड़ धीरे से बन्द करके वे वापस चली गयीं।

इसके बाद बेगम रशीद को फिर अपने पति की चारपाई पर आने का साहस नहीं हुआ।

दूसरे दिन बेगम कादिर ने बड़ी बेतकल्लुफ़ी से रशीद भाई के कमरे से एक चारपाई उठवा कर बालकनी में डलवा दी और वहाँ कादिर साहब की मेज़ लगवा दी (क्योंकि काम के लिए सोने का कमरा उपयुक्त न था, फिर छोटी-सी बच्ची भी उनके थी, जो रशीद भाई के लड़के के साथ हिल-मिल गयी थी और शोर में काम न हो सकता था।)

"रात को फिर चारपाई यहीं कर लेंगे," उन्होंने रशीद भाई को समझा दिया, "अभी आप लोग इस मेज़ पर बैठ कर काम करें।"

यह कह कर वे अपने कमरे में चली गयीं और उसे ठीक करने में लगी रहीं।

रशीद भाई ने उसी मेज़ पर बैठ कर डायरेक्टर कादिर के साथ चन्द मिनटों के लिए सम्वादों के सिलसिले में बातचीत की। बस, यही तसल्ली उन्हें रही। शेष सारा दिन तरह-तरह के लोग डायरेक्टर कादिर से मिलने को आते रहे। रशीद भाई बालकनी में उठ आये और वहीं बैठे अपने मित्रों से बातें करते रहे और बेगम रशीद दिन भर किचन में बैठी रहीं। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि कादिर साहब से जो लोग मिलने आते रहे, उन्होंने दूसरी चारपाई से सोफ़े का काम लिया

और सुबह बेगम रशीद ने जो धुला-धुलाया पलँगपोश उस पर बिछाया था, वह शाम होते-होते बीसियों सिलवटों से भर गया।

फ़्लैट में दो बाथ-रूम थे, जिनमें से एक में स्नानादि होता था और दूसरे में घाटन आ कर बर्तन आदि मलती थी। इस दूसरे बाथ-रूम को, पूर्णरूप से निस्संकोच हो कर, बेगम कादिर ने तीसरे दिन सँभाल लिया और घाटन से कह दिया कि वह बर्तन रसोई ही में मले।

चौथे दिन रशीद भाई ने सोच-साच कर यह तरकीब निकाली कि दूसरा पलँग भी बालकनी में ला कर सजा दिया जाय और बालकनी का सामान मध्य के कमरे में लगा कर उसे साझा ड्राँइंग-रूम बना दिया जाय। बेगम कादिर ने इस सूझ के लिए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। परिणाम इसका यह हुआ कि वह कमरा भी उनके हाथ से निकल गया और बेगम रशीद पूर्ववत दिन का अधिक समय रसोई में बन्द रहीं, क्योंकि जब कादिर साहब अपने मिलने वालों से बात कर रहे हों तो रशीद भाई का अपने मिलने वालों से बात करना तो दूर रहा, उन्हें वहाँ बैठाना अथवा स्वयं बैठना भी असम्भव था। सो रशीद भाई को पूर्ववत बालकनी में बैठ कर काम करना और मुलाकातियों से मिलना पड़ा और बेगम रशीद ने दिन रसोई-घर में काटा।

पाँचवें दिन शृंगार की मेज़ भी बालकनी में आ गयी। इस तरह बालकनी उनका सोने, बैठने और शृंगार करने का स्थान बन गयी और डायरेक्टर कादिर से उन्होंने जो कहा था कि — "यदि आप आयें तो हम बालकनी में रह कर भी सुख पायेंगे,' — सो वह सुख उन्हें अधिक-से-अधिक मात्रा में पहुँचाने के लिए बेगम कादिर ने किसी प्रकार की कंजूसी से काम नहीं लिया।

छठे दिन उन्होंने किसी प्रकार की हिचकिचाहट के बिना स्टोर से रशीद भाई का सामान निकाल कर वहाँ अपना रसोई-घर बना लिया।"

"इनको तो तुम जानती हो," बेगम रशीद से उन्होंने कहा, "फेफड़े की तकलीफ़ है। आज 'निगेटिव' हों तो क्या, कल 'पॉज़िटिव' हो सकते हैं। मैं तो अपने और नाज़ली के बर्तन भी अलग रखती हूँ। तुम्हारे फूल-सा बच्चा है। सो भाई, रसोई तो मैं अलग पकाऊँगी।"

इस तरह स्टोर का जो सामान गैलरी में आ पड़ा, उसे सजाने और गैलरी में अस्थायी स्टोर बनाने में उन्होंने बेगम रशीद की पूरी-पूरी सहायता की और निस्संकोच अमूल्य परामर्श दिये।

यह कहने की ज़रूरत नहीं कि रसोई-घर बनते ही उन्होंने रशीद भाई के बावर्ची और घाटन पर अपना अधिकार जमा लिया और नये नौकर के आने तक बेगम रशीद को अपने हाथ से खाना पकाने के लिए विवश होना पड़ा।

०

सातवें दिन जब शहबाज़ के निमन्त्रण पर रशीद भाई 'दादर-बार' में पहुँचे तो शहबाज ने देखा, सात दिन पहले उनके मुख पर जो प्रसन्नता थी, उसका सौवाँ हिस्सा भी वहाँ नहीं। दाढ़ी उनकी बढ़ी हुई थी और कपड़े भी नासाफ़ थे। चेहरा भी, जो माँस के बाहुल्य के बावजूद, भरा, तना और चमचमाता लगता था, उसे लटकता-सा दिखायी दिया।

शहबाज़ को यह तो मालूम ही हो गया था कि रशीद भाई डायरेक्टर कादिर की नयी पिक्चर के सम्वाद लिख रहे हैं, इसलिए वह स्कॉच की एक पूरी बोतल लिये उनकी प्रतीक्षा कर रहा था कि आयें तो पूछे कि उन्होंने उसके लिए भी कुछ किया है या नहीं, पर रशीद भाई का मूड देख कर, वह चुप ही रहा। बैरे को बुला कर उसने मटन-चाप और कबाब के लिए ऑर्डर दिया और गिलासों में पेग उँडेले। सोडे की बोतलों के कार्क उड़ा, उसने गिलासों में सोडा डाला और एक गिलास रशीद भाई की ओर बढ़ाया।

रशीद भाई इस बीच में बराबर कुहनियाँ मेज़ पर टेके, हथेलियों पर सिर रखे, सामने दीवार पर भागती हुई हिरनी का पीछा करते रहे, जो न जाने कुलाँच भर रही थी अथवा अँगड़ाई ले रही थी, क्योंकि कुलाँच भरने में उसकी अगली और पिछली टाँगों में उतना ही अन्तर था, जितना अँगड़ाई के समय होता। चित्रकार ने हरिणी की अँगड़ाई में कदाचित अपनी ही प्रेयसी की अँगड़ाई को देखा था। कौन जाने? साधारण आदमी के मन की बात भी नहीं जानी जा सकती, फिर यह तो कलाकार के मन की बात ठहरी। जहाँ तक रशीद भाई का सम्बन्ध था, उनका मन अँगड़ाई की बिलकुल उल्टी स्थिति में था। ऐसा सिकुड़ गया था कि शायद कुछ सोच ही न रहा था। उनकी आँखें हिरनी पर इस तरह टिकी थीं, जैसे दृष्टि के ज़ोर से उसे सचमुच कुलाँच भरने पर विवश कर देंगी। न कुलाँच भरेगी तो उसमें बड़े-बड़े दो छेद कर देंगी।

शहबाज ने कुछ क्षण इस बात की प्रतीक्षा की कि रशीद भाई की निगाहें आप-से-आप गिलास में उमड़े हुए उस उफ़ान को देख लें, पर जब भाग उठ कर बैठने लगी और रशीद भाई की अन्यमनस्क दृष्टि हिरनी पर से न हटी तो उसने कहा – "क्या बात है? उठाइए न गिलास! देखिए, शीशे में उतरी परी आपके होंटों से लगने को बेचैन है!"

और वह एक खोखली, बनावटी हँसी हँसा।

"हटाओ यार! आज मन नहीं। पी जाओ यह भी तुम्हें! मैं तो चला आया कि तुम फोकट में मेरी राह न देखो।" और उन्होंने गिलास को शहबाज़ के गिलास के साथ रख दिया।

"पर बात क्या है? डायरेक्टर कादिर से मामला नहीं पटा क्या?"

रशीद भाई पहली बार कुछ मुस्कराये। "पटा क्या, चक्की का पाट बन कर गले में पड़ गया! सोचता हूँ, किस तरह उससे नजात हासिल करूँ।"

"क्या मतलब आपका?"

उत्तर में रशीद भाई ने अपनी बिपदा की सारी कहानी सविस्तार कह सुनायी।

बैरा मटन-चाप और कबाब रख गया।

शराब गिलास में पड़ी हो, गर्म-गर्म मटन-चाप की प्लेट दावत दे रही हो, शहबाज़ को इस सुख के सामने सभी दुख अकिंचन दिखायी देते थे। उसने कहा, "हटाइए! आप भी क्या ज़रा-ज़रा-सी बात को मन में जगह देते हैं! इतनी बड़ी आपकी ख्वाहिश पूरी हो गयी। उठाइए, इस खुशी में दो-एक पेग उड़ जायें।"

लेकिन रशीद भाई के होंटों पर मुस्कान की जो रेखा उदय हुई, उसमें बड़ी वेदना थी।

"तुम्हें यह ज़रा-सी बात लगती है? यहाँ तो मालूम होता है कि जन्नत में बैठे-बैठे जहन्नुम में जा पड़े। अगर डायरेक्टर कादिर या मिस शमीम को और दो महीने मकान न मिला तो अपना तो बण्टाढार हो जायगा।"

"अजी आप गिलास उठाइए, कुछ ज़्यादा तकलीफ़ हो तो मेरे यहाँ चले आइएगा।"

और उसने स्वयं गिलास उठा लिया।

रशीद भाई ने बड़े अनमने भाव से गिलास उठाते हुए कहा, "लेकिन तुम्हारे पास तो सिंगल-फ़्लैट है। तुम कहाँ जाओगे?"

गिलास को रशीद भाई के गिलास से टकराते और एक ही घूंट में खत्म करते हुए शहबाज़ ने कहा, "हम फक्कड़ों का क्या है, बाहर सीढ़ी पर बिस्तर जमा लेंगे!"

०

दूसरे दिन ग्यारह-बारह के लगभग जब शहबाज़ ने अपनी खुमार-भरी आँखें खोलीं तो उसने देखा कि कमरा सामान से अटा पड़ा है और वही जगह खाली है, जिसमें कि वह सोया हुआ है। उसने दो-एक बार आँखों को झपकाया कि सपना तो नहीं देख रहा। तभी दरवाज़े पर रशीद भाई नमूदार हुए।

"तुम भी यार खूब पीते हो और खूब सोते हो!" वे बोले, "उठो हाथ-मुँह धोओ, और खाना खा लो। फिर सामान को लगाने में हमें मदद दो। तुम्हारी भाभी किचन में खाना पका रही है। तुम्हारा नोकर बड़ा अच्छा है। वह न होता तो इतना सामान इस तीसरे माले पर कभी न चढ़ता।"

और वे रह-रह कर हँसने लगे।

रात को चौथे माले पर रहने वाला क्लर्क जब ज़रा देर में अपने घर आया तो सीढ़ियाँ चढ़ते हुए उसने देखा कि तीसरे माले का नौकर ही सीढ़ियों पर नहीं सो रहा, बल्कि उसका साहब भी बिस्तर बिछाये लेटा हुआ है और मुटर-मुटर छत की ओर तक रहा है।

१९४८

* *

घिसा हुआ पत्ता

* *

रेस्तराँ में लगी हुई मेज़-कुर्सियों के सागर में मछलियों की भाँति तैरते हुए, एक-सी गति से चाय या कॉफ़ी या दूसरा सामान लाते-ले जाते और टिप पाने पर मुस्करा कर या बिना मुस्कराये सलाम करते हुए बैरों को देख कर एक ही खेल में, एक ही ढंग से बाँटे जाने वाले साफ़-सुथरे ताश के पत्तों की याद आ जाती है। ताश के उन पत्तों में यों कोई अन्तर दिखायी नहीं देता – कम-से-कम उनके बाँटे जाने की गति में। पर यदि कोई पत्ता अपने खेलने वालों की भाव-भंगिमाओं को, उनके मनोभावों को और उनकी व्याकुलता और व्यग्रता को देख सकता और अनुभव कर सकता....तो....

और जिस बैरे की कहानी मैं आपको सुनाने जा रहा हूँ, वह ऐसे ही जानने-सुनने का अनुभव करने वाले पत्ते सरीखा है।

चर्च गेट रोड (बम्बई) के रेस्तराँ में वह काम करता है। उसकी आकृति पर उसकी यह अनुभूति और जानकारी उल्लास-भरी मुस्कान अथवा भ्रू-भंग के बड़े हल्के विविध रंगों में प्रतिबिम्बित होती रहती है।

वह शुरू ही से बम्बई की उस चहल-पहल और शोर का अंग हो, ऐसी बात नहीं। उसका जन्म कुमाऊँ की पहाड़ियों के बड़े ही शान्त वातावरण में हुआ था। कुमाऊँ की पहाड़ियों में, जहाँ पलक झपकते बादल आते हैं, बरसते हैं और चले जाते हैं। जहाँ गगास की नदी देखते-देखते ठाठें मार उठती है और फिर पहाड़ियों में अनजाने खो जाती है। जहाँ धुन्ध पल भर में उठ कर इतनी गहरी हो जाती है

कि पहाड़ और पेड़ और पौधे और सामने चार कदम पर चले जाने वाले आदमी — कुछ भी नज़र नहीं आता और लगता है, जैसे बादल-भरा आकाश ज़मीन पर उतर आया हो। लेकिन इस सारी सुन्दरता को उसने कभी कालिदास अथवा पन्त की आँखों से नहीं देखा। बचपन ही से उसे जीविकोपार्जन के लिए घर छोड़ कर ज़िन्दगी के सागर में एक तिनके सरीखा भटकना पड़ा है। कुमाऊँ के जवान तो सेना में भर्ती होते हैं, पर इतना जवान होने के लिए — कि वह सेना में भर्ती हो पाता — उसे समय ही नहीं मिला।

छुटपन ही से वह रानीखेत के एक साहब के साथ घरेलू नौकर हो कर इलाहाबाद आया। फिर गर्मियों में पहाड़ और सर्दियों में इलाहाबाद, लखनऊ, बरेली, दिल्ली के किसी-न-किसी घराने में नौकरी करता रहा। छठी में पढ़ता था, जब वह गाँव से भागा था। गाँव से रानीखेत तक आते-आते उसके कपड़े मैले-चीकट हो गये और उसका गोरा रंग भी उन मैले कपड़ों से भिन्न न था। लेकिन घरों में काम करने पर अपने साहबों की देखा-देखी वह अच्छे कपड़े पहनना, सस्ता साबुन और सस्ती क्रीम और छिपा कर अपने साहबों का पाउडर लगाना सीख गया। और यद्यपि उसकी उम्र फ़ौज में जाने की हो गयी, पर वह घरेलू काम में कुछ ऐसा रस पाने लगा कि फ़ौज में नहीं गया।

शादी उसकी लड़कपन ही में हो गयी थी। गौना नहीं आया था। और अधिकांश दिन उसे अपने घर से दूर शहरों में ही बिताने पड़ते थे — ऐसे शहरों में, जहाँ सजी-सँवरी जवान लड़कियाँ थीं — सिनेमा-थियेटर थे और उसके शरीर में न जाने क्या लपलपाती आग-सा जग उठा था। उसका गोरा रंग....उसकी साफ़-सुथरी वेश-भूषा....और एक दिन उसने पाया कि ऐसे घरों में जहाँ लड़कियाँ हों और जवान बीवियाँ — उसे जगह नहीं मिल सकती। उसने दो-चार ऐसे घरों में काम किया, जहाँ ऐसी कोई बाधा नहीं थी, पर वहाँ उसका मन न लगा और उसने अपने एक दूसरे साथी के साथ एक होटल में नौकरी कर ली। वह पहले किचन बॉय बना — फिर बैरा।

घर में जब वह नौकरी करता था तो सुबह छै बजे उठ कर रात को दस-ग्यारह बजे तक काम किया करता था। उस एकरस जीवन में किसी प्रकार की दिलचस्पी न थी। कई बार जब घर में मेहमान आ जाते तो दोपहर को आध घण्टे का आराम भी नसीब न होता। काम....काम....काम। लेकिन कभी, जब किसी घरेलू युवती की उपस्थिति में वह काम करता तो अपने काम का भार उसे उतना न खलता। बैरे का काम यद्यपि अपेक्षाकृत कम था, दोपहर को दो-एक घण्टे आराम के भी मिल जाते थे, किन्तु वहाँ किसी तन्वंगी के निकट बैठ कर काम करने का अवसर प्राप्त न होता।

पहले-पहल उसने नैनीताल के एक होटल में दो-तीन साल तक काम किया।

सीज़न के दिनों में बड़े ज़ोरों का रश रहता। सुबह सात से रात दस बजे तक काम करना पड़ता। होटल में सौ के लगभग कमरे थे और कुल दस बैरे। सुबह 'बेड टी' पहुँचाना, फिर नाश्ता (कई साहब कमरे में ही नाश्ता मँगाते) फिर साहब लोगों के बिस्तर बिछाना; फ़र्नीचर झाड़ना; साहब अच्छा हो (उससे जाते समय टिप मिलने की आशा हो तो) जूते भी पालिश करना; फिर लंच, फिर शाम की चाय (जो प्रायः कमरे में ही जाती) और फिर डिनर। दोपहर के लंच के बाद वह आध घण्टे के लिए सो जाता या शेव कराता, या उसके कमरे के साहब कहते तो उन्हें सिगरेट ला देता। कुछ न होता और जी ऊबता तो मल्ली ताल की सैर को निकल जाता और झील की दीवार अथवा किसी ढाबे पर बैठ कर गप लड़ाता।

वह शायद जीवन भर यही करता, पर नैनीताल के सीज़न का ज़ोर इधर मई-जून के दो महीने और उधर सितम्बर-अक्तूबर के दो महीने ही रहता। शेष वक्त उसे अपने गाँव में अथवा नीचे मैदान के किसी बड़े शहर के रेस्तराँ में गुज़ारना पड़ता।

नैनीताल में एक बार बम्बई की एक फ़िल्म ऐक्ट्रेस उसके होटल में एक महीने के लिए ठहरी और बातों-ही-बातों में उसने बम्बई के जीवन का चित्र कुछ ऐसे शब्दों में खींचा कि अभी सीज़न ख़त्म भी न हुआ था कि आधे महीने की पगार होटल हो में छोड़ कर वह उसके साथ बम्बई चला गया।

तीन-चार बरस इस या उस ऐक्टर, इस या उस नायक, इस या उस डाइरेक्टर या प्रोड्यूसर के घर पहले ही की तरह पाँच बजे सुबह से रात दस बजे तक बावर्ची-बैरे का काम करता रहा। उम्मीद थी कि उसके साहब या मेम साहब उसे फ़िल्म में छोटा-मोटा रोल दिला देंगे, किन्तु जब तीन बरस तक उसे रोल-वोल तो न मिला और घाते में पहले से ज्यादा मेहनत हाथ आयी तो उसने वह सब छोड़-छोड़ कर फिर बैरे की नौकरी कर ली।

अपने देस गये उसे तीन बरस हो गये हैं। वहाँ जाने को उसका ज़रा भी मन न हुआ हो, ऐसी बात नहीं, लेकिन आ तो गया वह उन ऐक्ट्रेस महोदया के खर्च पर, अब जाये कैसे? बम्बई से कुमाऊँ के अपने उस घर में पहुँचने के लिए जितना रुपया दरकार है, वह कभी नहीं जुटा पाया। वह दो-तीन महीने मित-व्ययिता से काम चलाता तो शायद उतने पैसे जुटाने मुश्किल न होते, पर बम्बई पहुँच कर उसने नयी आदतें सीख ली हैं और उसकी महीने की पगार पहले हफ़्ते की भेंट हो जाती है।

आम दिनों में वह छै बजे उठता और आठ बजे रेस्तराँ पहुँच जाता है। लंच तक काम पर रहता है, फिर तीन घण्टे आराम को मिल जाते हैं। फिर चार बजे से रात के नौ बजे रात तक रेस्तराँ में काम करता है। इतवार को आधा

वक्त बारी से छुट्टी होती है, पर पगार के बाद के पहले दिनों में वह नियमित रूप से अपने काम पर से दो-तीन दिन तक ग़ायब रहता है। हजामत बनवाता है, शेव करता है, सूट पहनता है और दूसरे होटलों के अपने ही जैसे साथियों के साथ खाना उड़ाता है और दिन में दो-दो, तीन-तीन शो देखता है। खाना उसे रेस्तराँ में मिल जाता है, पर उन दिनों वह अपने रेस्तराँ जाने वाली सड़क की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखता। उस महानगरी के विभिन्न रेस्तराँ-होटलों में खाना खाता और चाय पीता है। उन क्षणों में वह अपनी हस्ती तक भूल जाता है। और एकदम साहब बना बैरों को आवाज़ देता है। उसका कुल वेतन पचास रुपया है, पर वह किसी बड़े साहब से कम टिप नहीं देता। होटलों में आने वाले साधारण ग्राहक रुपये पीछे एक आना टिप देते हैं। पर बिल बड़ा हो या छोटा वह बड़ी शान से आठ आने तश्तरी में छोड़ देता है।

अपनी ये हरकतें उसे कई बार खासी हास्यास्पद लगती हैं। कई बार उसके साथी उसका मज़ाक भी उड़ाते हैं, पर वह कभी कम टिप नहीं देता। उसके होटल में आने वाले ग्राहक भारी जेबों के बावजूद जिस घटियापन का सबूत देते हैं, वह स्वयं अपनी हल्की जेब होते हुए भी खुले दिल से टिप दे कर उन सबका मुँह चिढ़ा देता है।

खुले दिल से बखशीश देने वाले उसके रेस्तराँ में बिलकुल न आते हों, ऐसी बात नहीं, लेकिन सचमुच ऐसे बहुत कम होते हैं, जो स्वभावतः खुला खर्च करते हैं। कुछ का खुली बखशीश देना केवल अपने साथियों पर अपनी पद-प्रतिष्ठा का रोब डालना होता है। वे जब अकेले आते हैं तो या बहुत कम टिप देते हैं या काउण्टर पर आप जा कर बिल चुकाते हैं और बिना उसकी ओर देखे चले जाते हैं। टिप की मात्रा ही से वह जान जाता है कि कब उसके ग्राहक ऐक्टरों को काम मिला है या कब छूटा है। कई बार जब बिल पूरी रकम का होता है, तब खुले दिल से बखशीश देने वाले जेब से रेज़गारी निकाल कर बखशीश रख देते हैं। कभी जब बिल के बदले पाँच या दस का नोट दिया जाता है और बिल पूरी रकम का होता है तो वह शेष रकम में एक रुपये की रेज़गारी साथ रख देता है ताकि ग्राहक को टिप देने में कठिनाई न मालूम हो। पर कई ऐसे भी होते हैं, जो बड़ी बेशर्मी से सारी-की-सारी रकम जेब में डाल कर चले जाते हैं। कभी ऐसे क्षण में उसे अपने-आप पर और बखशीश देने और माँगने की इस प्रणाली पर बड़ा क्रोध आता है और वह सोचा करता है कि यदि इस बखशीश के सिस्टम को हटा कर पगार बीस-तीस रुपये बढ़ा दी जाय तो कितना अच्छा हो।

उसके रेस्तराँ में, वह जानता है कि कुछ लोग ऐसे भी आते हैं, जिनकी पगार अधिक नहीं और जो बम्बई के अधिकांश निवासियों की तरह रेस्तराँ में खाने को विवश हैं। बखशीश देने की इस प्रणाली से मजबूर हो कर जब से बखशीश देते हैं तो उनकी आकृति पर जैसे भाव आते हैं, उन्हें देख कर कई बार उसके मन में आता है कि कहे – रहने दीजिए, इनके पान मेरी ओर से खा लीजिएगा – पर वह कभी ऐसा नहीं करता और चुपचाप पैसे ले कर सलाम कर देता है। जब कभी कोई ऐसा सेठ, जिसे वह जानता है कि धनपति है, उसे कंजूसी से टिप देता है तो उसके जी में आता है कि बखशीश के पैसे उसके मुँह पर दे मारे, पर वह कुछ नहीं कहता, भ्रू-भंग किये सलाम देता है और चुपचाप पैसे जेब में डाल लेता है।

जब कभी कोई नया जोड़ा, नयी मुहब्बत के नशे में सरशार, उसके रेस्तराँ में आता है तो उन्हें चाय पिलाते या खाना खिलाते समय, उनकी धीमी-धीमी प्यार-भरी बातें सुन कर, उसे अपने देश में बैठी अपनी पत्नी की याद आ जाती है और एक लम्बी आह उसके सीने से निकल जाती है। उन दिनों वह अपनी पगार से पेशगी रुपये ले कर अवश्य ही कोई-न-कोई लाटरी का टिकट खरीद लेता है और जब तक लाटरी का नतीजा नहीं निकलता, तरह-तरह के सुख-सपनों में गुम रहता है। और जब उसकी आशा निराशा में बदल जाती है तो वह लम्बी साँस भर कर अपने एक ग्राहक से सुना हुआ शेर आलाप उठता है –

हर वक्त यास हिज्र में दिल की रही शरीक
हर मर्तबा उम्मीद ने धोखा दिया मुझे

और फिर उसका जीवन चक्की-सरीखा चलने लगता है – ताश के पत्ते बँटते रहते हैं। वह पत्ता बहुत कुछ जानता है (कि बँटते-बँटते घिस गया है) बहुत कुछ सोचता-समझता है, पर अपने खेलने वालों के हाथों से निकल नहीं पाता। बँटता रहता है....बँटता रहता है....

१९५२

* *

दलदल

* *

जब सुधीन्द्र ने 'फ़िल्म इण्डिया' का नया अंक ला कर पिता के सामने रख दिया तो उन पर मानो बिजली गिर गयी। माँ भी वहीं थी, देखते ही सिर पीटने लगी। उसका सारा क्रोध अपने पति पर उतरा, "लो, देख लो अपनी बहन की करतूत ! और नचाओ लड़की को ! कल नाचती थी, आज ऐक्ट करती है, कल बाज़ार में जा बैठेगी।"

जिस तरह ओलों की मार से बचने के लिए कोई भूला-भटका राही, बाँहों से सिर को बचाता हुआ, दुबका जाता है, कुछ उसी प्रकार दुबके हुए श्री त्रिवेदी, किसी प्रतिवाद के बिना, अपनी पत्नी की यह गोला-बारी सहन कर रहे थे।

प्रतिवाद के लिए उनके पास था भी कुछ नहीं। उनकी पत्नी सच्ची थी। मेरठ उतना बड़ा नगर नहीं कि पड़ोसी कौन है, किधर से आया है, कहाँ का निवासी है, क्या करता है ? — आदि-आदि प्रश्नों से लोग वास्ता न रखें। पण्डित रामकृष्ण त्रिवेदी की छोटी लड़की रमा अभिनेत्री बन गयी है — यह ख़बर तो आग की तरह नगर में फैल जायगी। फिर रमा से मेरठ वाले अपरिचित भी न थे। शुरू-शुरू में दो-एक कंसर्टों के नृत्य में वह भाग भी ले चुकी थी। क्या-क्या बातें न उन्हें सुननी पड़ेंगी !

यह सब तो ठीक, पर इसमें त्रिवेदी जी का क्या दोष था ? जब एक लड़के के बाद उनके घर हर वर्ष लड़की होने लगी तो आगत के भय से पति-पत्नी बड़े सन्त्रस्त हुए थे। तब उनकी बहन ही उनके आड़े आयी थीं। चौथी लड़की को पालने का जिम्मा उसने ले लिया

था। वह लेडी डॉक्टर थी। पति भी उसके डॉक्टर थे, परन्तु एक कोठी और यथेष्ट धनराशि उसके नाम छोड़ कर परलोक सिधार गये थे। जब चौथी लड़की के जन्म पर घर में उल्लास के बदले शोक का-सा सन्नाटा छा गया तो बहन ने उन्हें तसल्ली दी थी।

"मेरे कौन है ?" उसने कहा था, "मैं इस लड़की को पालूंगी, पढ़ाऊँगी, ब्याहूँगी। अपनी कोठी इसके नाम कर दूँगी। तुम चिन्ता क्यों करते हो ?"

और यह सब सुन कर पति-पत्नी, दोनों बड़े प्रसन्न हुए थे।

०

रमा — क्योंकि उस चौथी लड़की का यही नाम रखा गया — अपनी बुआ के घर बड़े स्वतन्त्र रूप से पली। अपनी सब बहनों से वह सुन्दर निकली। मैट्रिक में पढ़ती थी जब स्कूल की एक कंसर्ट देख कर उसने नृत्य सीखने की इच्छा प्रकट की। बुआ ने तत्काल एक नृत्य-कला-विशारद को उसे नृत्य की शिक्षा देने के लिए नियुक्त कर दिया। तभी उसने एक-दो कंसर्टों में भी भाग लिया। त्रिवेदी जी तो कदाचित बुरा न समझते, क्योंकि तीन बेटियों के विवाह करते-करते उनकी कमर दोहरी और बाल सफ़ेद हो गये थे, चौथी लड़की का बोझ अपने कन्धों पर लेने की उनमें शक्ति न थी, पर उनकी पत्नी ने जब सुना कि रमा सभा-सोसाइटी में नाचती फिरती है तो उसने घर सिर पर उठा लिया। त्रिवेदी जी ने दबी जबान से प्रतिवाद किया कि लड़की हमने उसे दे दी, वह चाहे जैसे पाले, पर पत्नी न मानी — 'लड़की तो वह हमारी ही कहलायगी; नाक तो हमारी ही कटेगी; कल वह बाज़ार में जा बैठी तो मुँह दिखाना किसे मुश्किल हो जायगा ?' — और न जाने उसने क्या-क्या कहा। संक्षेप में यह कि वह स्वयं गयी और दस बातें ननद को सुना कर लड़की को घर ले आयी।

त्रिवेदी जी की बहन को बड़ा दुख हुआ। रमा से उसे बड़ा स्नेह हो गया था। उसके जाने के पश्चात अपना एकाकीपन उसे और भी अखरने लगा। प्रैक्टिस उसने पति के मरने पर ही छोड़ दी थी। अब फिर क्या आरम्भ करती। मन बहुत उचाट हुआ तो उसने नौकरानी को साथ लिया और अपने देवर के पास बम्बई चली गयी।

इधर अपने घर में रमा का जीवन कटु से कटुतर हो गया। बुआ के घर वह अकेली खाने-पीने वाली थी। यहाँ उसका भाई भी था, जो अपने पिता की कमाई का अधिकांश ठिकाने लगा देता था। फिर उनकी कमाई थी ही कितनी ? — डेढ़ सौ रुपये वेतन वे पाते और चालीस-पचास ऊपर से बनाते थे। मँहगाई के ज़माने के दो सौ, घर की रोटी भी न चलती। ऊपर से माँ की डाँट-डपट। चन्द महीनों में ही रमा ऊब उठी। उधर उसकी परीक्षा हुई, इधर उसने खाना-पीना छोड़ दिया। पूछा तो मालूम हुआ कि वह अपनी दूसरी माँ को देखना चाहती है। जब

माँ की डाँट-फटकार और पिता का प्यार-दुलार लड़की को खाना खाने के लिए उद्यत न कर सका और त्रिवेदी जी की बहन का भी पत्र आया कि वह रमा को देखना चाहती है तो पति-पत्नी ने आपस में परामर्श करके उसे सात-दस दिन को बम्बई भेजना स्वीकार कर लिया। बहन ने अपने देवर को भेजा। वह आ कर रमा को ले गया। इस बात की ताकीद पति-पत्नी ने उसे कर दी कि सात-दस दिन से अधिक उसे न रखा जाय। रमा से कह दिया गया कि वह अधिक दिन वहाँ न रहे।

इस बात को दो महीने हो गये थे। रमा वापस न आयी थी। पूछने पर बहन ने लिखा था कि जल-वायु के परिवर्तन से उसका स्वास्थ्य सहसा बिगड़ गया है, ज्योंही ठीक हुआ, उसे भेज दिया जायगा। आज अचानक इस चित्र को देख कर पता चला कि बम्बई जाते ही जो उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया, उसका क्या कारण था। श्रीमती त्रिवेदी को तो सन्देह हुआ कि रमा की बुआ जो बम्बई गयी और रमा उसे देखने को मचल उठी तो यह सब दोनों ने गिन-मिथ कर किया और उसने ननद को सौ-सौ गालियाँ दे कर सौगन्ध खायी कि वह अपनी लड़की को उसके जाल से तत्काल निकाल लायेगी।

०

यह चित्र, जिसे देख कर घर भर में कोहराम मच गया था, इसी रमा का था। 'फ़िल्म इण्डिया' के मुख्य-पृष्ठ पर छपा था और नीचे लिखा था – 'इन्द्र-धनुष पिक्चर्ज़' की नयी खोज 'रमा त्रिवेदी !' सुधीन्द्र को फ़िल्मों का बड़ा शौक था। पिता से बीस बहाने बना, जो पैसे वह ले जाता था, वे सब फ़िल्में देखने, अभिनेत्रियों के चित्र एकत्र करने और फ़िल्मी पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ने पर खर्च होते थे। 'फ़िल्म इण्डिया' के उस नये अंक में मुख्य-पृष्ठ पर ही जब उसने यह चित्र देखा तो वह चौंका था – यह नायिका कितनी रमा से मिलती है ? – निमिष भर के लिए उसने सोचा था, परन्तु जब उसने नीचे लिखे हुए शब्द पढ़े तो वह पत्रिका लिये हुए अपने माता-पिता को दिखाने भागा आया था।

आखिर जब श्रीमती त्रिवेदी अपना समस्त गोला-बारूद समाप्त कर शान्त हुईं तो यह सोच पैदा हुई कि रमा को किस प्रकार बम्बई से लाया जाय। त्रिवेदी जी स्वयं जाने को तैयार थे, परन्तु पत्नी को उन पर भरोसा न था। उसका विचार था कि बहन उन्हें उँगली पर नचाती है। यदि वह उनके आसरे रही तो लड़की चकले में जा बैठेगी। यह सब सोच कर उसने सुधीन्द्र को तैयार किया। कुल की मान-प्रतिष्ठा का वास्ता दिला कर उसे आदेश दिया कि बम्बई पहुँच कर, अपनी उस सिरफिरी बहन को चोटी से पकड़ कर घसीटता हुआ मेरठ ले आये। जब सुधीन्द्र ने विश्वास दिलाया कि न केवल वह बहन को चोटी से पकड़ लायेगा, बल्कि अपनी बुआ को भी चोटी से पकड़ दो-चार चक्कर देगा; जब उसने

सविस्तार अपनी माँ को बताया कि यह षडयन्त्र रचने पर वह बुआ को कैसे-कैसे और क्या-क्या 'मधुर वचन' सुनायेगा तो माँ ने एक गहना गिरवी रख कर सौ रुपया जुटाया और अपने लाल को बम्बई की गाड़ी में चढ़ा दिया। उसी दिन से वह अपनी सिरफिरी लड़की के आने की बाट देखने लगी और उस पर फ़ायर करने के लिए पर्याप्त रूप से अपने क्रोध की तोप में बारूद भरने लगी।

परन्तु जब सुधीन्द्र को भी गये एक महीना हो गया और न वह रमा को लाया, न स्वयं लौटा और पति अपनी बहन को और माँ अपने लाल को चिट्ठियाँ लिख कर हार गयी और भाई-बहन की कुशल-क्षेम के अतिरिक्त और किसी बात का पता न चला तो पति-पत्नी बड़े चिन्तित हुए। यों त्रिवेदी जी अपनी समस्त चिन्ता के बावजूद मन-ही-मन कुछ प्रसन्न भी थे, क्योंकि जहाँ उनके वेतन का अधिकांश उनकी पत्नी का वह लाड़ला हथिया लेता था और व्यर्थ के कामों में उड़ा देता था, वहाँ बम्बई में वह बुआ के पास था और त्रिवेदी जी को विश्वास था कि और चाहे जो हो, उनकी बहन लड़के को किसी प्रकार से तंग न रहने देगी और उन्होंने अगले वेतन पर अपने लिए एक शेरवानी सिलवाने का निश्चय कर लिया था।

पत्नी को उन्होंने समझाया कि घबराओ नहीं, आखिर वह अपनी बुआ के पास है, बम्बई की सैर कर रहा होगा। पर ननद का नाम सुन कर त्रिवेदी-पत्नी को आग लग गयी, बीस कोसने उसने अपने पति और उसकी बहन को दिये और घोषणा की कि वह उसी दम बम्बई जा कर अपने लड़के-लड़की को वापस लायेगी। त्रिवेदी न चाहते थे कि उनके रहते उनकी पत्नी, जो अपनी समस्त कर्कशता के होते हुए भी आखिर एक अबला थी, अकेले बम्बई जाने का कष्ट करे। परन्तु उनकी पत्नी न उन्हें अकेले भेजने को तैयार थी, न अपने साथ ले जाना चाहती थी। उसका विचार था कि त्रिवेदी जी के वहाँ होते वह अपने लाल से भी हाथ धो लेगी। इसलिए पुरोहित से शुभ-मुहूर्त पूछ, एक और गहना गिरवी रख, रुपये अण्टी में बाँध, वह अपनी सिरफिरी लड़की और लाड़ले, भोले लड़के को वापस लाने बम्बई चल दी।

पहले कुछ दिन तो त्रिवेदी जी बड़े सुख से रहे, पर जब उसको गये भी एक महीना होने को आया तो त्रिवेदी जी बड़े घबराये। ज़रूर कुछ दुर्घटना हो गयी है – रह-रह कर उनके मन में यही आशंका उठने लगी। वे घरेलू टाइप के जीव थे। यद्यपि उनकी पत्नी उन्हें डाँटती और उन पर शासन करती थी, पर वर्षों उसकी छत्र-छाया में रहने पर वे उस गुलामी के अभ्यस्त हो गये थे। पत्नी की अनुपस्थिति में घर का सूनापन उन्हें बेतरह काटने लगा। आखिर जब चिन्ता और एकाकीपन ने मेरठ में उनका जीवन दूभर कर दिया तो महीने की पहली तारीख को उन्होंने वेतन धोती के छोर में बाँधा, पड़ोसी से घर का ध्यान रखने

की प्रार्थना की, आश्वासन दिलाया कि सप्ताह भर में वे आये खड़े हैं और बम्बई का टिकट ले कर गाड़ी पर सवार हो गये।

०

सप्ताह छोड़, त्रिवेदी जी महीने तक वापस नहीं आये। पड़ोसी के पास मेरठ से त्रिवेदी-कुटुम्ब के इस प्रकार भाग जाने का कोई समाधान न था, परन्तु महीना बाद 'फ़िल्म इण्डिया' में 'इन्द्र-धनुष पिक्चर्ज़' की नयी खोज का एक और सुन्दर पोज प्रकाशित हुआ। नीचे लिखा था – "रमा त्रिवेदी 'इन्द्र-धनुष पिक्चर्ज़' के नये चित्र 'दलदल' में।" – साथ में घोषणा थी कि नायिका के माता-पिता और भाई की भूमिका में काम करने वाले वास्तव में उसके माता-पिता और भाई हैं।

१९४८

* *

दर्शक की आँख

* *

रंगमंच की अपेक्षा फ़िल्म के पर्दे का क्षेत्र कहीं व्यापक होता है। जिन्दगी की तमाम घटनाएँ सीमित अथवा महज़ प्रभाववादी ढंग से नहीं, पूरी यथार्थता से फ़िल्म के पर्दे पर दिखायी जा सकती हैं। और रेडियो-नाटक से वह इस मायने में आगे है कि उसका दर्शक केवल अभिनेता की आवाज़ ही नहीं सुनता – उसे सामने देखता भी है और प्रायः जो कुछ फ़िल्म के पर्दे पर होता है, उसमें हिस्सा भी लेता है। इसीलिए कहा जाता है कि कैमरा दर्शकों की आँख है और माइक श्रोताओं के कान।

❧ १९७१ में जब बी. बी. सी. (लन्दन) से संलग्न युवा-पत्रकार श्रीराम विद्यार्थी इलाहाबाद आये तो अश्क जी से उन्होंने अन्य बातों के इलावा देशी-विदेशी फ़िल्मों पर भी बात-चीत की। चूंकि अश्क जी अपने जीवन के दो वर्ष हिन्दी फ़िल्मों की चकाचौंध-भरी दुनिया में बिता आये थे, इसलिए श्री विद्यार्थी उनके अनुभवों को विस्तार से जानने के इच्छुक थे।

लन्दन लौट कर श्री विद्यार्थी ने अश्क जी को एक प्रश्नावली भेजी और आग्रह किया कि अपने निजी अनुभवों की रोशनी में वे इस आधुनिक और सशक्त माध्यम के बारे में अपने विचार प्रकट करते हुए इन प्रश्नों के उत्तर दें। उन दिनों अश्क जी अपने वृहद उपन्यास – 'बाँधो न नाव इस ठाँव' – को पूरा करने में व्यस्त थे, इसलिए श्री विद्यार्थी की प्रश्नावली रखी रही।

फिर जब १९७४ में अश्क जी सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार के सिलसिले में सोवियत संघ और वहाँ से इंग्लैण्ड गये तो अपने इंग्लैण्ड-प्रवास के दौरान उन्होंने श्री विद्यार्थी को उनकी प्रश्नावली के आधार पर एक लम्बी भेंट-वार्ता रिकॉर्ड करायी, जो यहाँ प्रस्तुत है। ❧



वि० : अश्क जी, ललित कलाओं में, जिस तरह मूर्ति-कला, स्थापत्य-कला, काव्य-कला या चित्र-कला को मानवीय अभिव्यक्ति की एक स्वतन्त्र विधा के रूप में स्वीकार किया जाता है, क्या उसी तरह फ़िल्म को भी, उसके तमाम संश्लिष्ट रूप के बावजूद, आप एक स्वतन्त्र विधा के रूप में स्वीकार करते हैं या नहीं ?

अ० : उन कलाओं के मुकाबिले में यदि फ़िल्म-कला को रखा जाय तो निश्चय ही उसका अलग अस्तित्व है। रही अलग विधा की बात तो यदि साहित्य में कहानी और उपन्यास की अलग-अलग विधाएँ मानी जा सकती हैं तो सिने-नाटक (फ़िल्म) को रंग-नाटक या रेडियो-नाटक से भिन्न, अलग विधा के रूप में क्यों न माना जायगा ? क्योंकि अन्ततोगत्वा फ़िल्म है तो एक तरह का नाटक ही।

वि० : तब आप की नजर में उसका स्वरूप क्या है, उसका चरित्र क्या है, उसकी विशिष्टता क्या है, जो उसे अन्य विधाओं से पृथक अस्तित्व और व्यक्तित्व और मान्यता प्रदान करती है ?

अ० : यह तो कुछ अध्यापकीय-सा प्रश्न है भाई, इसका ठीक जवाब तो 'फ़िल्म इन्स्टीट्यूट,' पुणे का कोई अध्यापक अथवा छात्र ही दे सकता है, जिसने इस सब का शास्त्रीय अध्ययन किया हो। मैंने इस सन्दर्भ में कुछ ज्यादा पढ़ा नहीं, फ़िल्म की दुनिया में एक सिने-कर्मी के नाते दो वर्ष रहा जरूर हूँ। डायलॉग लिखे हैं, कहानी लिखी है, गीत लिखे हैं और ऐक्टिंग की है – और भी कई तरह के अनुभव मैंने सँजोये हैं, उन्हीं के बल पर निहायत मोटे तौर पर मैं इन प्रश्न का उत्तर दे सकता हूँ।

वि : जब मैं आपसे बात-चीत कर रहा हूँ तो ज़ाहिर है कि मैं आप ही की राय जानना चाहता हूँ। आप अपनी नज़र अथवा अपने अनुभव के बल पर कुछ बताइए।

अ० : मूर्ति-कला, स्थापत्य-कला या चित्र-कला के मुकाबिले में सिने-कला को रख कर उसकी विशेषताएँ बताना मेरे लिए कठिन है, क्योंकि मैं उन विधाओं को नहीं जानता, लेकिन यदि तुम रंग-नाटक ही की तरह फ़िल्म को याने सिने-नाटक को (क्योंकि फ़िल्म के पर्दे पर रूपायित होने से पहले तो वह कहानी और सिनारियो के रूप में लिखी जाती है और आजकल तो छपती भी है — 'दस्तक' और 'गर्म हवा' आदि अपने प्रकाशित रूप में उपलब्ध हैं) दृश्य-काव्य मान लो और रेडियो-नाटक को श्रव्य-काव्य तो मैं कुछ कह सकता हूँ। और उनका अन्तर दिखा कर फ़िल्मी विधा के स्वरूप की रेखाएँ उकेर सकता हूँ।

पहला ज़माना होता — याने आज से पैंतिस-चालिस वर्ष पहले का — तो मैं कह देता कि रंग-नाटक की अवधि चार-पाँच घण्टे की होती है, रेडियो-नाटक ज़्यादा-से-ज़्यादा आध-पौन घण्टे का होता है, लेकिन फ़िल्म ढाई घण्टे से ज़्यादा की नहीं होती। लेकिन इसी बीच पुराने — पूरी-पूरी रात भर चलने वाले — नाटकों की अवधि प्रकट ही फ़िल्म की प्रतियोगिता या प्रभाव में, घट कर दो-ढाई घण्टे हो गयी और फ़िल्में चार-चार घण्टों की भी बनीं और रेडियो-नाटक न केवल लगातार घण्टे-डेढ़ घण्टे तक के प्रसारित हुए, वरन उपन्यासों के नाट्य-रूपान्तर बारह-बारह किस्तों में आकाशवाणी से प्रसारित हुए....सो अवधि की दृष्टि से फ़िल्म की विभिन्नता या विशिष्टता नहीं दिखायी जा सकती।

मंच पर स्थान और समय की संकुचितता और फ़िल्म के पर्दे पर समय और स्थान की व्यापकता को ले कर बात की जा सकती थी (विशेषकर १९३७ के बाद से लेकर दस-बारह वर्ष पहले तक, जब हमारे मंच पर बॉक्स सेटों और संकलन-त्रय का ज़ोर था) लेकिन जैसे फ़िल्म के प्रभाव में रंग-नाटक की अवधि कम हुई, उसी तरह प्रभाववादी मंच ने समय और स्थान की दूरियाँ भंग करके रंगमंच को रजत-पट जैसी (समय और स्थान की) व्यापकता दे दी — एक ही मंच पर तीन-तीन, चार-चार सेट दिखाये जाने लगे, आदमी के अन्दर-बाहर का द्वन्द्व मंच पर दिखाना सम्भव हो गया, भूत-भविष्य की बातें अन्धकार-प्रकाश के योग से दिखायी जाने लगीं — जिन लोगों ने मिलर का नाटक 'डेथ ऑफ़ अ सेल्ज़मैन' पढ़ा अथवा देखा है या जिन्होंने राजेन्द्र सिंह बेदी के प्रसिद्ध उपन्यास 'एक चादर मैली-सी' को

रंग-नाटक के रूप में 'यात्रिक' (दिल्ली) के मंच पर प्रस्तुत होते देखा है, वे मेरी इस बात से सहमत होंगे कि उस दृष्टि से भी दोनों में भेद नहीं किया जा सकता।

लेकिन इसके बावजूद साधारण बुद्धि का कोई आदमी भी कह देगा कि तमामतर समानताओं के चलते भी ये तीनों विधाएँ अलग-अलग हैं। जब अलग-अलग हैं तो प्रकट ही उनका स्वरूप और चरित्र अलग होगा और उनमें विभिन्नताएँ भी होंगी।

मेरे खयाल में इनके स्वरूप और चरित्र में जो भिन्नता है — उसका एक-मात्र कारण प्रेक्षकों के सम्मुख इन नाटकों को रखने के माध्यमों का अन्तर है — दूसरे शब्दों में, रंगमंच, रेडियो और फ़िल्म के जिन अलग-अलग माध्यमों से नाटक दर्शकों अथवा श्रोताओं तक पहुँचते हैं, उनके अन्तर से इन विधाओं के स्वरूप और चरित्र में अन्तर आ गया है।

मिसाल के लिए एक कहानी को लीजिए। उसे यदि रंगमंच पर प्रस्तुत करना हो तो नाटककार उसे न केवल घटनाक्रम के अनुसार दृश्यों अथवा अंकों में विभाजित करेगा, पात्रों के विभिन्न सम्वाद सृजेगा, वरन सेट के संकेत देगा और अभिनेताओं की भाव-भंगिमाओं का भी उल्लेख करेगा। नाटक के घटना-क्रम और द्वन्द्व के बीच में वह स्वयं कभी नहीं आयेगा। उसे जो कुछ बताना होगा, जो कुछ दिखाना होगा, वह सम्वादों अथवा पात्रों की भाव-भंगिमाओं के द्वारा ही बतायेगा या दिखायेगा। यद्यपि पुराने यूनानी नाटकों में कोरस द्वारा भी सूचनाएँ दी जाती थीं और इधर कुछ प्रयोगवादी नाटकों में नाटककार स्वयं भी बोलने लगा है, लेकिन अच्छे नाटक में नाटककार स्वयं दखल-अन्दाज़ी नहीं करता और न सूत्रधार या उद्घोषक (नैरेटर) का बार-बार आना ही अच्छा समझा जाता है।

अब यदि इस नाटक को रेडियो के लिए तैयार करना होगा तो वे सारे निर्देश जो नाटककार ने निर्देशक अथवा पात्रों के लिए दिये होंगे, कट जायेंगे। सम्वाद भर रह जायेंगे और भाव-भंगिमाओं का स्थान वाणी ले लेगी। रेडियो-कलाकार जो भी प्रभाव पैदा करना चाहेंगे, वाणी के उतार-चढ़ाव से करेंगे। अब यदि इसी कहानी पर फ़िल्म बनती है तो उसका स्वरूप और चरित्र बिल्कुल बदल जायेगा। रंगमंच पर कुछ अंक या कुछ दृश्य दिखाये जाते हैं। फ़िल्म-नाटक में वे सब बहुत छोटे-छोटे दृश्यों में परिवर्तित हो जाते हैं, जिन में सम्वादों का हिस्सा अपेक्षाकृत कम हो जाता है और वह सब भी दिखाया जाता है, जो रंगमंच के बाहर हुआ हो — तब वे सब दृश्य भी सिने-नाटक में लिखे जाते हैं, जिन्हें मंच पर दिखाना कठिन होता है, पर जिन्हें सिनेमा के पर्दे पर आसानी से दिखाया जा सकता है।

– और रंग-नाटक अपने रेडियो रूपान्तर में चाहे पठनीयता बरकरार रखे, सिने-नाटक के रूप में खासा उबाऊ हो जाता है। – फ़िल्म-कथा तो फिर पढ़ी भी जा सकती है, लेकिन फ़िल्मी नाटक (सिनारियो) टेकनिकल चीज़ होने के कारण आम पाठक रस ले कर नहीं पढ़ सकता। पठनीयता की दृष्टि से रंग-नाटक फ़िल्म-नाटक की अपेक्षा कहीं बेहतर होता है।

और यूँ एक ही थीम या कथानक माध्यमों के अन्तर की वजह से अपना स्वरूप और चरित्र बदल लेता है।

माध्यमों की इसी विभिन्नता के कारण मैं इन तीनों विधाओं की कुछ मोटी विभिन्नताओं का उल्लेख करता हूँ :

पर्दों के माध्यम से, भाववादी सेटों पर संकेत रूप में मंच-सामग्री के माध्यम से, या फिर मंच रजत-पट के सहयोग से (जहाँ युद्ध के अथवा किसी दुर्घटना या आन्दोलन के दृश्य सिनेमा के माध्यम से मंच पर दिखाये जा सकें, जैसा कि एपिक थियेटर में दिखाये जाते हैं) रंगमंच को कितना भी व्यापक क्यों न बना दिया जाय, उसमें अभिनेताओं के अन्दर और बाहर का द्वन्द्व अथवा भूत-भविष्य की जिन्दगी क्यों न दिखा दी जाय, उसे रेडियो अथवा फ़िल्म की व्यापकता – कम-से-कम जहाँ तक आउट-डोर चीज़ों और दृश्यों का सम्बन्ध है – कभी प्राप्त नहीं हो सकती। रेडियो का श्रोता उनकी कल्पना कर लेता है और फ़िल्म का दर्शक उन्हें सामने देखता है – वे गलियाँ, बाज़ार, गाँव, कस्बे, घुड़-दौड़, मोटर साइकलों या कारों की रेस, वह लड़ाई-झगड़ा, वे जंगल-वीराने, मैदान-पहाड़, समुद्र-तूफ़ान – वे हज़ारों-हज़ार दृश्य, जो फ़िल्म में दिखाये जा सकते हैं, मंच पर लगभग नहीं दिखाये जा सकते। अथवा उतने यथार्थवादी ढंग से नहीं दिखाये जा सकते।

फिर रंगमंच पर जो कुछ भी श्रोताओं तक पहुँचाना होता है, सब प्रमुखतः अभिनेताओं के सम्वाद अथवा भाव-भंगिमाओं के माध्यम से पहुँचाना होता है – इसीलिए अपनी भूमिका अभिनेताओं को कण्ठस्थ करनी होती है। रंग-अभिनेता का दर्शक उसके सामने बैठा होता है और उसकी प्रशंसा अथवा निन्दा उसे प्रेरित या हतोत्साह कर सकती है। प्रेरणा के क्षणों में रंग-अभिनेता नाटक में प्राण फूंक देता है और हतोत्साह होने पर ऐसी ग़लती कर सकता है, जो सारे नाटक को चौपट कर दे। नाटककार, अभिनेता या निर्देशक को इसी सीमित मंच पर, अभिनय-गत-सीमा में बँधे ज़िन्दगी का चित्रण करना होता है और अगर नाटककार ने नितान्त काल्पनिक पात्र सृजे हैं तो उन्हें सजीव और यथार्थ बना कर रंगमंच पर प्रस्तुत करना होता है।

रेडियो-नाटक की वैसी सीमा नहीं होती। जैसा कि मैंने कहा रेडियो-

नाटककार वे सब आदेश काट देता है, जो मंच के लिए लिखे होते हैं। रेडियो का माध्यम केवल ध्वनि है। इसी के सहारे रेडियो-कलाकार दूर-नज़दीक, रेडियो सेटों के पास बैठे हुए लक्खोखा श्रोताओं तक अपनी बात पहुँचाते हैं। पार्श्व में दिये जाने वाले 'इफ़ेक्ट्स' वातावरण बनाने में उनकी मदद करते हैं, लेकिन अभिनेताओं को प्रमुखतः अपनी आवाज़ के उतार-चढ़ाव का ही अवलम्ब होता है। भूमिकाएँ याद करने की कोई कैद नहीं होती, क्योंकि उसकी ज़रूरत नहीं होती। अभिनेताओं के हाथों में अपनी भूमिकाएँ लिखी रहती हैं। चूंकि श्रोता सामने नहीं होते, इसलिए उनकी निन्दा-स्तुति का कोई असर उन पर नहीं पड़ता। ग़लती हो जाने की सूरत में उतना टेप रद्द करके नया भर लिया जाता है। इसी कारण से रेडियो नाटककार चाहे, या न चाहे, रेडियो के सम्वाद लम्बे और उनमें ऐक्शन की कमी हो जाती है और कई बार शुद्ध रेडियो-नाटक को मंच पर प्रस्तुत ही नहीं किया जा सकता। किया जाता है तो प्रायः सफल नहीं होता। (यूँ ऐसे नाटककारों की कमी नहीं, जिनके नाटक मंच और रेडियो पर समान रूप से सफल हुए। लेकिन निश्चय ही ऐसे नाटककारों ने नाटक लिखते वक्त मंच का भी ध्यान रखा है। मेरे प्रायः सभी नाटक रेडियो तथा मंच पर समान रूप से सफल हुए हैं। अंग्रेज़ी नाटककार मॉर्टिमर के लगभग सभी नाटक, जो बी० बी० सी० पर हुए, मंच पर भी सफल हुए हैं, लेकिन मण्टो ने रेडियो के लिए सौ नाटक लिखे और एक भी मंच पर नहीं खेला गया। निश्चय ही मण्टो ने रेडियो से मिलने वाली सुविधाओं का पूरा उपयोग किया और नाटक कभी मंच पर होगा – इसका ध्यान नहीं रखा।)

लेकिन यह भी सच है कि इन सभी कारणों से रेडियो-नाटक का क्षेत्र रंग-नाटक की अपेक्षा विस्तृत होता है – सदियों की घटनाएँ, उद्घोषक (सूत्रधार) की आवाज़ में समायोजना के माध्यम से, श्रोताओं को सुनायी जा सकती हैं। छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा दृश्य श्रोता के कानों के माध्यम से उनकी कल्पना के सम्मुख उभारा जा सकता है।

कहना मैं यह चाहता हूँ कि रंग-नाटक की अपेक्षा रेडियो-नाटक को विधा यदि एक ओर आसान है तो दूसरी ओर विस्तृत है।

फ़िल्म-नाटक को रंग-नाटक और रेडियो-नाटक की अपेक्षा और भी सुविधाएँ प्राप्त हैं। यह तो ठीक है कि फ़िल्म के दर्शक उसके सामने बैठे होते हैं, लेकिन उनकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता का कोई प्रभाव अभिनेताओं पर नहीं पड़ता। रेडियो अभिनेता की तरह फ़िल्म-अभिनेता के सामने मसौदा तो नहीं होता। अपने चन्देक सम्वाद उसे याद करने होते हैं, क्योंकि एक दिन में फ़िल्म के दो-चार दृश्य ही फ़िल्माये जा सकते हैं और उन दो-चार

दृश्यों में सम्वाद भी दो-एक ही होते हैं, इसलिए उन्हें याद करना कठिन नहीं होता। लेकिन यदि उससे भूल हो जाती है तो रंग-नाटक की तरह फ़िल्म चौपट नहीं होती, वरन रेडियो-निर्देशक की तरह फ़िल्म-निर्देशक तब तक रीटेक लेता रह सकता है, जब तक कि उसे सन्तोष न हो जाय। फिर यद्यपि फ़िल्म के श्रोता सामने बैठे होते हैं, लेकिन अभिनेता सजीव सामने नहीं होते और इसी से फ़िल्मी नाटक के स्वरूप और चरित्र में फ़र्क पड़ जाता है।....

लेकिन इस सब के बावजूद यह भी सच है कि रंग-नाटक और रेडियो-नाटक की अपेक्षा फ़िल्मी-नाटक और भी विस्तृत फलक पर उतरता है। रंगमंच की अपेक्षा फ़िल्म के पर्दे का क्षेत्र कहीं व्यापक होता है। ज़िन्दगी की तमाम घटनाएँ सीमित अथवा महज़ प्रभाववादी ढंग से नहीं, पूरी यथार्थता से फ़िल्म के पर्दे पर दिखायी जा सकती हैं और रेडियो-नाटक से वह इस मायने में आगे है कि उसका दर्शक केवल अभिनेता की आवाज़ ही नहीं सुनता – उसे (भले ही चित्र रूप में) सामने देखता भी है और प्रायः जो कुछ फ़िल्म के पर्दे पर होता है, उसमें हिस्सा भी लेता है। इसीलिए कहा जाता है कि कैमरा दर्शकों की आँख है और माइक श्रोताओं के कान।

रेडियो के श्रोता जिन घटनाओं-दुर्घटनाओं को आवाज़ के माध्यम से रेडियो पर 'सुनते' हैं – फ़िल्मी दर्शक उन सबको साकार पर्दे पर 'देखते' हैं और भागीदार की हैसियत से उनमें शामिल होते हैं। फिर सिने-नाटककार और फ़िल्म-निर्देशक प्रकृति के हर रूप को फ़िल्म के पर्दे पर उतार सकते हैं – यही नहीं, वे प्रकृति के दृश्यों के माध्यम से अपने अभिनेताओं के दुख-सुख का संकेत भी दे सकते हैं। विमल राय ने 'सुजाता' में और सत्यजित राय ने 'पथेर पंचाली' में यह काम बहुत ही सुचारु रूप से सम्पन्न किया है।

वि० : अभी आपने स्वयं अपने ढंग से कला-माध्यम के रूप में फ़िल्म की व्याख्या की। उस दृष्टि से देखें तो आधुनिक जीवन की जटिलता को, उसकी विविधता को, उसके व्यापक आयामों को, उसकी अपरिमित गतिमत्ता को या उसकी सुपरजेट स्पीड को अभिव्यक्ति देने के लिए फ़िल्म से बेहतर कोई माध्यम नहीं। क्या आप इससे सहमत हैं? क्या आप फ़िल्म को आधुनिक युग की अभिव्यक्ति के सर्वोत्तम माध्यम के रूप में स्वीकार करेंगे?

अ० : आधुनिक युग की अभिव्यक्ति का – जहाँ तक उसके बाह्य रूप का सम्बन्ध है, मानता हूँ। लेकिन विचार देना अथवा विचारों में क्रान्ति करना फ़िल्म के बस का नहीं।

वि० : क्यों?

अ० : इसलिए कि जैसा सुदर्शन चोपड़ा ने फ़िल्मी ज़िन्दगी पर लिखे गये अपने लघु उपन्यास 'प्रतिनायिका' के एक पात्र से कहलवाया है – विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम लिखित शब्द ही रहेगा। दर्शन और विचार-प्रधान पुस्तकों को छोड़ कर, साहित्य की बात करें तो सबसे पहले कविता, फिर उपन्यास, फिर नाटक विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम होगा।

वि० : फ़िल्म क्यों विचारों की अभिव्यक्ति के लिए सक्षम नहीं? मैं तो समझता हूँ, अपने संश्लिष्ट रूप के कारण वह इस काम को अन्य विधाओं के मुकाबिले में बेहतर तौर पर कर सकती है।

अ० : भाई, विचारों की अभिव्यक्ति नितान्त वैयक्तिक क्रिया है और कोई खरा लेखक अपने लेखन-कक्ष में – भले ही वह कोई मामूली-सी कोठरी हो – किसी भी तरह की बाधा, अंकुश, दबाव अथवा आर्थिक जोखिम को महसूस किये बिना अपनी लेखनी के माध्यम से अपने विचार व्यक्त कर सकता है। उसकी अभिव्यक्ति में किसी दूसरे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों या गुटों का हस्तक्षेप नहीं होता! जबकि फ़िल्म को एक व्यक्ति नहीं, एक समूह रचता है। फ़िल्मी कथाकार या सिने-नाटककार के सामने उसका निर्देशक, निर्देशक के सामने प्रोड्यूसर, प्रोड्यूसर के सामने फ़नांसर, फ़नांसर के सामने फ़िल्मों को देखने वाले बेगिनती दर्शक होते हैं, लाखों-करोड़ों का व्यय होता है। सो, मात्र विचार की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने का दुस्साहस फ़िल्मकार नहीं करता। यही कारण है किसी फ़िल्म ने आज तक कोई नया विचार नहीं दिया, जबकि रूसो के 'सोशल कॉण्ट्रैक्ट' और मार्क्स के 'कैपिटल' अथवा 'कम्यूनिस्ट घोषणापत्र' ने संसार में क्रान्ति कर दी।

वि : लेकिन फ़िल्म के व्यापक फलक और उसके व्यापक प्रभाव से तो आप इन्कार नहीं कर सकते?

अ० : फ़िल्म के व्यापक प्रभाव से मैं इनकार नहीं करता, लेकिन जैसा कि सुदर्शन ने ठीक ही कहा है, फ़िल्म प्रभावित करती है दर्शकों के बाह्य व्यक्तित्व को – उनके फ़ैशन, हाव-भाव, आचार-व्यवहार को – उनका अन्तर प्रायः उससे अछूता रह जाता है। दिमाग़ों में क्रान्ति फ़िल्म नहीं करती, क्योंकि फ़िल्म बनाने में लाखों-करोड़ों रुपये की लागत का जोखिम है। इसलिए फ़िल्म के भाग्य में मुख्यतः मनोरंजन का माध्यम होना लिखा है। मनोरंजन साहित्य भी देता है, पर यह उत्कृष्ट साहित्य का मूल लक्ष्य नहीं। उसका लक्ष्य है – विचार! और विचारों को नये साँचे में ढालने का काम अन्ततः साहित्य ही करता है। फिर फ़िल्म के व्यापक फलक को देखते हुए तुम उसकी अवधि

की सीमा को मत भूलो। मेरे खयाल में, उपन्यास ही वह विधा है, जो आधुनिक जीवन की जटिलता, विविधता, उसके व्यापक आयामों और गतिमत्ता को अभिव्यक्ति दे सकती है। कोई रंग-नाटक और रेडियो-नाटक भी ऐसा कर सकता है; प्रश्न नाटक की कलात्मक सम्भावना और निर्देशक की शक्तिमत्ता का है। ब्रेख्त ने अपने नाटकों द्वारा ऐसा किया है। जब कभी किसी ऐसे उपन्यास पर फ़िल्म बनी है, जिसमें उपन्यासकार ने अपने युग का व्यापक चित्रण किया है, तब फ़िल्म की सीमाओं का सहसा आभास मिल गया है। फ़िल्म कितनी भी अच्छी क्यों न बनी हो, वह सब नहीं दिखा सकी, जिसका चित्रण उस उपन्यासकार ने किया।

वि०: मुझे लगता है कि आपने, भले ही सुदर्शन के माध्यम से, जितनी बातें कही हैं, वे सब भारतीय फ़िल्मों को लक्ष्य में रख कर कही हैं, लेकिन विदेशों में जहाँ डायरेक्टर या ऐक्टर प्रमुख हैं और जहाँ फ़ाइनांसर का ठेंगा सिर पर नहीं है, फ़िल्मकार अपने मन-मुताबिक विचार दे सका है, अविस्मरणीय फ़िल्मों की सृष्टि कर सका है और फ़िल्म के माध्यम को उसने विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम भी बनाया है। क्या आप ऐसा नहीं समझते?

अ०: हाँ, यह ठीक है कि मेरे दिमाग़ में ज़्यादातर भारतीय फ़िल्में और यहाँ की वस्तु-स्थिति ही रही है। जहाँ तक विदेशों का ताल्लुक है, मैंने बहुत ज़्यादा विदेशी फ़िल्में नहीं देखीं। सिर्फ़ एक फ़िल्मकार मेरे दिमाग़ में आता है, जिसने इस माध्यम को अपने विचारों, अनुभूतियों और सम्वेदनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और सफल भी हुआ। मेरा संकेत चार्ली चैपलिन की ओर है। वह ऐसा तभी कर सका कि उसके सामने वे सब बाधाएँ और जोखिम नहीं रहे, जिनसे दूसरे डायरेक्टरों, प्रोड्यूसरों या फ़िल्मकारों को दो-चार होना पड़ता है। उसकी स्थिति किसी ऐसे लेखक की है, जो रोज़ी-रोटी की चिन्ता से मुक्त हो कर अपने लेखन-कक्ष में अपनी अनुभूतियों को मन-मुताबिक कलम की नोक पर रखे, जिसके पास अपना प्रेस, प्रकाशन-गृह और बिक्री-व्यवस्था हो और जिसने अपने पाठक भी बना लिये हों। चैपलिन ने ज़रूर ऐसी फ़िल्में बनायीं, जो मन पर अमिट असर छोड़ती हैं, सोचने पर मजबूर करती हैं और जिनकी याद भुलाये नहीं भूलती।

वि०: अभी जब आप दूसरी विधाओं के मुकाबिले में फ़िल्म की चर्चा कर रहे थे तो मेरी नज़र में आप फ़िल्म के एक विशिष्ट पक्ष की उपेक्षा कर गये लगते हैं। फ़िल्म सिर्फ़ भाव की शब्द-रूपक अभिव्यक्ति का ही तो माध्यम नहीं है। शब्द-रूप भाव के साथ-साथ फ़िल्म उन दृश्य आयामों को भी तो अभिव्यक्ति देती है, जिनको शब्द वर्णित भर कर सकता है, लेकिन ज्यों-का-त्यों रूपायित

नहीं कर सकता। कई बार हम शब्दों को अधखुले द्वारों की तरह पाते हैं, जिनसे हो कर मन की बात निकल ही नहीं पाती, जहाँ दृश्य रूपी बिम्ब अनिवार्य हो उठते हैं, जहाँ रेखांकित आयाम आवश्यक हो जाते हैं और आधुनिक जीवन इतना जटिल लगता है, कि कम-से-कम मेरी नज़र में फ़िल्म जैसा संलिष्ट माध्यम ही – सभी कलाओं को अपने दायरे में समेटता हुआ, अपनी विशिष्टताओं को उन सब पर आरोपित करता हुआ – पूरे रूप में उसे व्यक्त कर सकता है। आप का क्या खयाल है?

अ०: मैं तुम्हारी स्थापना के पहले भाग से सहमत हूँ, मैंने फ़िल्म के उस विशिष्ट पक्ष को एकदम नज़र-अन्दाज़ नहीं किया, बल्कि अपने लम्बे वक्तव्य में कई बार उसका उल्लेख किया है। यह दूसरी बात है कि मैंने तुम्हारे जैसी काव्य-मयी भाषा में न किया हो। जब मैंने कहा था कि फ़िल्म का लेखक या निर्देशक प्रकृति के दृश्यों के चतुर अंकन से अपने पात्रों के सुख-दुख का संकेत दे सकता है और मैंने विमल राय और सत्यजित राय का उल्लेख किया था तो मेरा मतलब यही था। विमल राय ने 'सुजाता' में और सत्यजित राय ने 'पथेर पंचाली' में बार-बार यह किया है। किसी रूखे पत्ते से टप-टप टपकती बूँद किसी अभिनेत्री की अन्तर्व्यथा को प्रतिबिम्बित कर सकती है और झूमते पत्तों से टपकती बूँदें उसके उल्लास को। तुमने जो कहा, मेरी यह बात उसका समर्थन ही करती है। मैं यह मानता हूँ कि रंगमंच अथवा रेडियो पर ऐसी बहुत-सी स्थितियाँ इस कलात्मकता से अभिव्यक्ति नहीं पातीं – फिर मैंने तो बहुत-से दृश्यों का भी ज़िक्र किया था, जो मंच और रेडियो पर नहीं दिखाये जा सकते और सिनेमा के पर्दे पर दिखाये जा सकते हैं, और यह भी कि दर्शक जिस प्रकार सिनेमा के पर्दे पर होने वाले नाटक में भागीदार की हैसियत से शामिल होता है, रेडियो नाटक सुनता हुआ या रंग-नाटक देखता हुआ वैसे शामिल नहीं होता। नाटक रंगमंच पर दर्शक का ध्यान किसी एक पात्र पर केन्द्रित नहीं हो पाता जबकि फ़िल्म के पर्दे पर और नायिका के क्लोज़-अप उनको दर्शकों के बिलकुल करीब ले आते हैं और फ़िल्म देखते हुए युवक प्रायः स्वयं नायक बन जाते हैं और युवतियाँ नायिकाएँ।

लेकिन मैं तुम्हारे वक्तव्य के अन्तिम भाग से सहमत नहीं। अपनी तमाम संश्लिष्टता और सामर्थ्य के बावजूद रंग-नाटक, उपन्यास अथवा महाकाव्य के मुकाबिले में फ़िल्म का माध्यम सीमित है। नाटक और उपन्यास आदमी जब चाहे पढ़ सकता है, रेडियो-नाटक को श्रोता टेप करके जब चाहे आँखें बन्द करके सुन सकता है और उसका रस ले सकता है, लेकिन पहले

तो फ़िल्म-नाटक (जैसा कि मैंने कहा) उतने मनोरंजन से पढ़ा नहीं जा सकता, फिर उसे सिनेमा हॉल में जा कर ही देखा जा सकता है। टी० वी० पर ज़रूर अपने कमरे में बैठ कर उसका रस लिया जा सकता है, लेकिन ज़रूरी नहीं कि फ़िल्म वाले या टी० वी० वाले प्रबुद्ध दर्शकों का खयाल ही रखें और जब वे चाहें, उनकी मन-चाही फ़िल्म उन्हें दिखा दें। वे लाखों लोगों के लिए फ़िल्म बनाते हैं, चन्द प्रबुद्ध दर्शकों के लिए नहीं। और फ़िल्म के माध्यम की यह कमज़ोरी उसकी बड़ी कमज़ोरी है। उसमें जन-सुलभ-माध्यम – याने मास-मीडिया के तमाम गुण-दोष हैं। यह ठीक है कि रंग-नाटक को देखने के लिए भी थियेटर हॉल में जाना पड़ता है, लेकिन अच्छे नाटक उतने ही सुपाठ्य भी होते हैं, बल्कि उच्च कोटि के नाटक की यह खूबी है कि वह अभिनेय होने के साथ-साथ सुपाठ्य भी हो। चेखव ने सिर्फ़ तीन पूर्णकालिक नाटक लिखे। उनको मंच पर देखने की सुविधा सब को प्राप्त नहीं होती, पर पिछले सौ वर्षों में उन्होंने जाने कितने करोड़ों पाठकों का मनोरंजन किया है, और कितने नाटककारों को प्रेरणा दी है।

वि० : लेकिन क्या फ़िल्म की खूबी उसकी व्यापक 'कवरेज' नहीं – उसका एक साथ कई सिनेमा हॉलों में, कई शहरों में दिखाया जा सकना रंग-नाटक के मुक़ाबिले में, जहाँ चाहे, जब चाहें, जितनी बार चाहें उसकी आवृत्ति कर पाना, उसकी महत्ता नहीं दर्शाता ? क्या रेडियो-नाटक अथवा उपन्यास के मुक़ाबिले में यह उस विधा की खूबी नहीं है ?

अ० : रेडियो-नाटक भी एक साथ सारे स्टेशनों से रिले किया जा सकता है और घर-घर सुना जा सकता है और रंग-नाटक यदि दिखाया नहीं जा सकता तो उपन्यास की तरह, उसे पुस्तक रूप में एक घर या शहर या देश नहीं, सारी दुनिया में पढ़ा जा सकता है। हाँ, दृश्य-काव्य के रूप में ज़रूर फ़िल्म का व्यापक कवरेज, रंग-नाटक के मुकाबिले में, गुण है; लेकिन जैसा कि मैंने पहले कहा दर्शकों से सीधे कम्यूनिकेशन का अभाव उसका दुर्गुण भी है। इन विधाओं के अपने-अपने गुण हैं और यदि विकसित देशों में फ़िल्म और टी० वी० के बावजूद दर्शक मीलों की मंज़िल मार कर नाटक देखने जाते हैं, तो प्रकट ही वे फ़िल्में देखते-देखते ऊब कर ही ऐसा करते हैं। फिर यह मत भूलो कि रंग-नाटक के मुकाबिले में एक फ़िल्म का निर्माण कहीं ज़्यादा खर्चीला है और छपे हुए उपन्यास या नाटक के मुकाबिले में वह क्षण-भंगुर है। सेसिल बी० डेमिल ने बड़ी शानदार और स्पेक्टैकुलर फ़िल्में बनायीं, लेकिन चाहें कि इच्छा होने पर उनमें से किसी को देख सकें तो क्या देख सकते हैं और नाटक तो छपे हुए रूप में कालिदास या भवभूति,

एस्खिलुस या सोफ़ॉक्लीज़ के भी पढ़े जा सकते हैं और उपन्यास तॉल्स्तॉय और दॉस्तोयेव्स्की के ही नहीं, बाल्ज़ाक और स्टॅण्ढहल तक के भी उपलब्ध हैं।

०

वि० : आपकी अब तक की बात के सन्दर्भ में एक और सवाल उठता है, जो शायद आपसे बार-बार पूछा जा चुका है, तो भी मैं सोचता हूँ, जाने उसका जवाब आज आपकी ज़बान से भिन्न निकले – शायद आपके अनुभव और परिपक्वता ने आपकी धारणाओं में कुछ परिवर्तन किया हो ? सवाल यह है कि आप एक अर्सा हुआ फ़िल्म में गये थे और एक खासा अर्सा वहाँ रहे। मैं यह पूछना चाहता हूँ कि आप उन दिनों एक सफल नाटककार थे और रेडियो का माध्यम आपकी और आपकी पीढ़ी के अन्य लेखकों की नज़र में सफल भी था, लोकप्रिय भी और सशक्त भी – उस समय अपने युग की सारी चेतना और सारे सामाजिक सन्दर्भों को ले कर जो सृजनशील लेखक रेडियो पर नाट्य-रचना कर रहे थे, रेडियो के माध्यम से पूरी तरह सन्तुष्ट थे, उन्हें फ़िल्म का कौन-सा आकर्षण खींच कर अपने दायरे में ले गया ?

अ० : धन का लोभ और पीड़ित अहं की तुष्टि।

वि० : ज़रा खोल कर बताइए !

अ० : जब तुम यह कहते हो कि 'आप सब रेडियो से सन्तुष्ट थे' तो तुम सही नहीं कहते। हम लोग – कृष्ण, मण्टो, बेदी, अख्तरुल ईमान, मीराजी, राजा मेहदी अली खाँ, विश्वामित्र 'आदिल,' आदि तमाम युवा लेखक और कवि रेडियो की ओर, उससे मिलने वाली किंचित ख्याति, लेकिन अपेक्षाकृत ज़्यादा पैसे के लोभ में आये थे। कृष्ण (उर्दू के प्रसिद्ध कथाकार कृष्ण चन्द्र) एम० ए० पास करके इधर-उधर प्रेत-लेखन करके कुछ कमाता था और रेडियो में वह पी० ए० (प्रोग्राम एसिस्टेण्ट) हो गया था। उसे डेढ़ सौ रुपये महीना मिलते थे, जो उस वक्त एक बड़ी रकम समझी जाती थी और विलायत-पलट लोग उसके लिए लालायित रहते थे। बेदी (उर्दू के प्रसिद्ध कथाकार और फ़िल्मी दुनिया के प्रसिद्ध लेखक-निर्देशक राजेन्द्र सिंह बेदी) डाकखाने में साठ रुपया महीना पाता था, जब वह नौकरी छोड़ कर दिल्ली आया। तब बुखारी साहब ने उसे सीधे ढाई सौ की नौकरी दे कर, लाहौर भेज दिया। अख्तरुल ईमान, जो बाहर लगभग सत्तर-अस्सी रुपये महीना पाता था – शायद कहीं तिबिया कॉलेज में पढ़ता या पढ़ाता था – रेडियो में बेहतर

नौकरी पर आ गया। मैं प्रीतनगर में अस्सी रुपये माहवार लेता था, रेडियो में डेढ़ सौ पाने लगा। यही हाल सभी दूसरों का था।

लेकिन बेहतर नौकरी पा कर भी हम सब सन्तुष्ट नहीं थे, क्योंकि अपने हाकिमों से, जो लगभग सारे-के-सारे हमारे पूर्ववर्ती साहित्यकार और जबरदस्त नौकरशाह थे, हम अपने आपको कहीं ज़्यादा मौलिक और योग्य मानते थे। लेकिन हमारी स्थिति खासी दयनीय थी। उस ज़माने में रेडियो एक जागीर की तरह था, जिसके जागीरदार दो भाई – ए० एस० बुखारी और ज़ेड० ए० बुखारी थे। तब रेडियो में सबसे पहले गवर्नमेण्ट कॉलेज (लाहौर) के मुसलमान छात्र लिये जाते थे, (क्योंकि रेडियो में आने से पहले बुखारी उस कॉलेज में अंग्रेज़ी के अध्यापक रहे थे) फिर गवर्नमेण्ट कॉलेज के हिन्दू छात्र, जिनसे किसी तरह बुखारी का सम्बन्ध रहा हो। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि बुखारी साहब के दोस्तों, रिश्तेदारों और उनके दोस्तों और रिश्तेदारों का स्थान सबसे पहले था – बुखारी आर्टिस्ट थे और आर्टिस्टों की तब बहुत कद्र थी – यही कारण है कि उन दिनों सब-के-सब युवा लेखक रेडियो में पहुँच गये। लेकिन 'बुखारी ग्रुप' के लेखकों के मुकाबिले में हम लोगों की स्थिति अच्छी नहीं थी – हम लोगों को पक्की सरकारी नौकरी पर नहीं – अस्थायी आर्टिस्टों के तौर पर रखा जाता था – मण्टो, मीराजी, अख्तरुल ईमान, बेदी, राजा मेहदी अली खाँ, मैं – हम सब मंथली पेड आर्टिस्ट थे। लेखकों में सिर्फ़ न० म० राशिद, कृष्ण और 'आदिल' पी० ए० थे। राशिद बुखारी ग्रुप के प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। (उन्हें ठीक ही उर्दू की नयी कविता का बानी कहा जाता है)। कृष्ण चन्द्र (प्रसिद्ध कथाकार) और 'आदिल' (युवा कवि) दोनों गवर्नमेण्ट कॉलेज (लाहौर) के छात्र रहे थे। लेकिन इस बात के बावजूद कि कृष्ण दिल्ली रेडियो में सबसे योग्य थे और सबसे ज़्यादा काम करते थे, जब वे एक बार तीन हफ़्ते के लिए कश्मीर गये तो राशिद ने बुखारी से कह कर अपनी तरक्की करा ली और कृष्ण को लखनऊ बदलवा दिया। जब कृष्ण और 'आदिल' के बाद आने वाले तरक्की पा कर बड़े अफ़सर हो गये तो दोनों रेडियो की नौकरी छोड़ कर फ़िल्मों में चले गये। मुझे व्यक्तिगत रूप से पता है कि यदि कृष्ण को तरक्की दे कर प्रोग्राम डायरेक्टर बना दिया गया होता तो वह कभी फ़िल्म में न जाता। बेदी कुछ देर लाहौर रेडियो में रह कर, पांच सौ रुपये माहवार पर पी० आर० ए० में दिल्ली आ गये थे, फिर विभाजन के बाद कश्मीर रेडियो के स्टेशन डायरेक्टर बन गये थे, लेकिन जब रेडियो कश्मीर का विलयन आकाशवाणी में हुआ और बेदी को ए० एस० डी० की छोटी नौकरी पेश की गयी (क्योंकि स्टेशन डायरेक्टर तो बाकायदा बोर्ड से चुना जाता था) और

स्टेशन डायरेक्टर रहने के बाद ए० एस० डी० वग़ैरा बनना बेदी को स्वीकार नहीं हुआ तो वे भी फ़िल्मों में चले गये। विभाजन के बाद मीराजी, राजा मेहदी अली खाँ या अख्तरुल ईमान का रेडियो में रहना कठिन था। सो वे लोग भी गीतकारों के रूप में किस्मत आज़माई करने फ़िल्मों में चले आये।

रही मेरी बात तो एक बार दिल्ली के स्टेशन डायरेक्टर श्री जुगल मुझसे खुश हो गये, उन्होंने चाहा कि मैं अर्ज़ी दूँ तो वे मुझे बाकायदा पी० ए० के रूप में ले लें। जुगल बुखारी के जिगरी दोस्त थे और बुखारी उनकी बात कभी नहीं टालते थे। तनख्वाह मेरी और प्रोग्राम एसिस्टेण्टों की बराबर थी। ज़िम्मेदारी मुझ पर कम थी। मैंने पच्चीस रुपये वेतन बढ़वा लिया और पी० ए० बनना स्वीकार नहीं किया। फिर मैं डायरेक्टर रशीद की साम्प्रदायिकता के कारण रेडियो छोड़ कर बेहतर नौकरी पर 'सैनिक समाचार' में चला गया और छै माह बाद मैं एक व्यक्तिगत कारण से मण्टो के बुलाने पर 'फ़िल्मिस्तान' बम्बई पहुँच गया।

सो पीड़ित अहं या ज़्यादा आय का लालच – हम सबके वहाँ जाने का कारण था। माध्यम से सन्तोष अथवा असन्तोष की कोई बात न थी। मैं नहीं समझता, बेदी या 'आदिल' को छोड़ कर हममें से किसी ने फ़िल्म के माध्यम को उस संजीदगी से लिया, जिसका वह अधिकारी है।

वि० : फिर आप लोग जल्दी लौट क्यों आये? क्या आपको वहाँ सृजन की अभिव्यक्ति की वह स्वतन्त्रता मिली, क्या वह वातावरण आपको वहाँ मिला, जिसकी कामना ले कर आप वहाँ गये थे, क्या किसी सम्वेदनशील संलाप को सम्भावना आपको वहाँ दिखायी दी?

अ० : क्या तुम आम हिन्दी फ़िल्मों को नहीं देखते? क्या किसी अच्छे लेखक के लिए उनमें किसी तरह के सम्वेदनशील संलाप की गुंजाइश है?....यह ठीक है कि कभी कॉलेज के ज़माने में फ़िल्मी ज़िन्दगी देखने का, फ़िल्मी दुनिया में ऐक्टर, डायरेक्टर या सिनारिस्ट के नाते जाने का मुझे बड़ा शौक था। लेकिन जब मैं फ़िल्मी दुनिया में गया, मेरा वह शौक कभी का खत्म हो चुका था। मुझसे बहुत पहले प्रेमचन्द उस दुनिया में गये थे और वहाँ जा कर उन्होंने मुझे एक लम्बा पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने फ़िल्मी ज़िन्दगी का जो खाका खींचा था, वह किसी सृजनशील लेखक के लिए खासा हौसला-शिकन था। दूसरी बातों के अलावा उन्होंने यह लिखा था कि वहाँ लेखक-वेखक को कोई नहीं पूछता। कहानी और सम्वादों के साथ डायरेक्टर जैसी चाहे मनमानी करते हैं....आदि....आदि....सो जब मैं फ़िल्मी दुनिया में गया तो मेरे मन में वैसा कोई सपना नहीं था। फिर मैं 'न्यू थियेटर्ज़' या 'प्रभात

फ़िल्म कम्पनी' में जाता तो शायद कोई वैसा सपना ले कर जाता; किसी अच्छे वातावरण या सम्वेदनशील संलाप की बात सोचता; पर मैं तो गया 'फ़िल्मिस्तान' में और 'फ़िल्मिस्तान' के सर्वे-सर्वा थे शशधर मुखर्जी और 'कंगन,' 'बन्धन,' 'झूला,' 'किस्मत,' आदि तमाम सिलवर जुबली फ़िल्मों में से, जो उन्होंने 'बॉम्बे टॉकीज़' में बनायी थी, मुझे कोई भी पसन्द न थी। मैं शायद कहीं विस्तार से लिख चुका हूँ, मैं अपनी पत्नी – कौशल्या – को सिर्फ़ यह बताने गया था कि मैं चाहूँ तो काफ़ी रुपया कमा सकता हूँ, पर मैं चाहता नहीं। इसलिए जब मैंने अपनी पत्नी को अपनी बात समझा दी, मैं चला आया....लेकिन यह भी ठीक है कि अगर मैं 'न्यू थियेटर्ज़' में जाता तो शायद मुझे कुछ अच्छा वातावरण मिलता....

वि० : आपको बम्बई और कलकत्ता के वातावरण में क्या अन्तर लगता है? आपने 'न्यू थियेटर्ज़,' 'प्रभात' और 'फ़िल्मिस्तान' की फ़िल्मों के अन्तर की बात की, जरा अपने वक्तव्य को विस्तार से समझाइए।

अ० : मैं कलकत्ता के फ़िल्मी वातावरण में रहा नहीं, लेकिन सुदर्शन जी से मैंने वहाँ की बातें सुनी हैं। फिर मैं डायरेक्टर नितिन बोस के साथ काम कर चुका हूँ और कल्पना कर सकता हूँ। जहाँ तक 'न्यू थियेटर्ज़,' 'प्रभात' और 'फ़िल्मिस्तान' की फ़िल्मों का सम्बन्ध है, 'न्यू थियेटर्ज़' की फ़िल्में बहुत ही कलापूर्ण, भावनात्मक स्तर पर समृद्ध, अच्छे लेखकों की कृतियों पर आधारित, अच्छे निर्देशकों द्वारा निर्देशित हुआ करती थीं। 'प्रभात स्टूडियो' पूना में था और वहाँ वी० शान्ताराम ने जो फ़िल्में बनायीं, वे सोद्देश्य थीं। वे उतनी कलापूर्ण भले ही न हों, लेकिन उनकी वस्तु हमेशा सोद्देश्य रहती थी। रहा 'फ़िल्मिस्तान' तो जैसा कि मैंने कहा, मैं बम्बई जाने से पहले 'बॉम्बे टॉकीज़' द्वारा बनी हुई शशधर मुकर्जी की कई हिट फ़िल्में देख चुका था। मैं जब गया तो मुकर्जी अपना ग्रुप ले कर 'फ़िल्मिस्तान' में आ गये थे। लेकिन उनका पैटर्न वही था। 'बॉम्बे टॉकीज़' में मुकर्जी साउण्ड रिकॉर्डिस्ट थे। जब 'बॉम्बे टॉकीज़' में हिमांशु राय द्वारा बनायी गयी उच्चकोटि की फ़िल्में बॉक्स ऑफ़िस पर असफल हो गयीं तो शशधर मुकर्जी ने शरत की कहानी से थीम ले कर एक फ़ार्मूला फ़िल्म बनायी। वह हिट हो गयी। मुकर्जी साउण्ड रिकॉर्डिस्ट से तरक्की करके डायरेक्टर हो गये। वे हमेशा तेज़ लोगों का एक गुट बना कर काम करते थे और जनता की निम्न रुचि पर पूरे उतरने वाले और उसे उकसाने वाले फ़िल्मी फ़ार्मूले को समझते थे, इसलिए एक के बाद एक हिट फ़िल्म उन्होंने बनायी। 'बन्धन' और 'कंगन' तो कुछ ग़नीमत थीं, लेकिन 'झूला' और 'किस्मत' वग़ैरा मेरे निकट निहायत फूहड़ फ़िल्में

थीं। (मुकर्जी ने मुझे भी ऐलन विल्किसन की किताब पढ़ने को कहा था, जिसमें आम जनता को पसन्द आने वाली फ़िल्मों के पन्द्रह फ़ार्मूले दिये हुए हैं।) मुकर्जी का काम करने का ढंग निहायत अवैज्ञानिक था। लेकिन इतना मानूँगा कि हमारी जनता के निहायत ही निम्न-स्तरीय मज़ाक की उन्हें अद्भुत समझ थी। 'बॉम्बे टॉकीज़' से अलग हो कर उन्होंने अलग फ़िल्म कम्पनी – 'फ़िल्मिस्तान' – स्थापित की तो अपना गुट साथ ही ले आये। 'फ़िल्मिस्तान' में वी० एच० देसाई हास्य-रस का ऐक्टर था। फ़िल्म के पर्दे पर उसके आते ही लोग हँसने लगते थे। प्रदीप बहुत अच्छे गीत लिखते थे। ज्ञान मुकर्जी चालू कहानी का खाका बनाते थे। वाचा बहुत अच्छे साउण्ड रिकॉर्डिस्ट थे। कपाड़िया कैमरामैन, पाई बढ़िया एडीटर और बर्मन तथा चितलकर सफल संगीत निर्देशक थे....गानों की धुनें और थीमें पहले से तय कर ली जाती थीं और गीतकार को उन धुनों पर गाने फ़िट करने को कहा जाता था। एक गाना प्यार का, एक विरह का, एक देश-प्रेम का, एक ग़रीब भिखमंगों का – इस तरह फ़ार्मूले के मुताबिक पहले से सब तय रहता था। प्रायः नायक-नायिका का एक दोगाना भी रखा जाता था। कहानी में ऐसी स्थितियाँ बनायी जाती थीं, जिनमें गाने और वी० एच० देसाई फ़िट हो जायँ। 'बॉम्बे टॉकीज़' में मुमताज़ का गाना ज़रूर होता, 'फ़िल्मिस्तान' में दूसरों की व्यवस्था हो गयी – बेगिनती फ़ीट फ़िल्म शूट की जाती और एडिटिंग में बेहतर सीन रख लिये जाते....अब इस तरह के वातावरण में किसी सृजनशील लेखक की कहाँ ज़रूरत थी? हाँ, मैं यह मानूँगा कि चाहे मैं वहाँ अपने किसी नितान्त व्यक्तिगत कारण से गया होऊँ, लेकिन वह विधा मुझे बाँध लेती, यदि मैं किसी सृजनशील निर्देशक के साथ काम करता, जिसे साहित्य से प्यार होता। तब, जैसे मैंने साहित्य की सभी विधाओं में एक-न-एक रचना दी है, मैं फ़िल्मी क्षेत्र में भी कुछ बहुत अच्छा दे सकता था। मैं रेडियो से हो कर गया था; मंच पर भी और रेडियो पर भी अभिनय करता रहा था; कवि हूँ, कथाकार हूँ, नाटककार हूँ – मैं बहुत अच्छी कहानी, डायलॉग, गाने या गज़लें, लिख सकता था, सिनारियो लिख सकता था, अभिनय कर सकता था, निर्देशन कर सकता था....मैं फ़िल्म में क्या नहीं कर सकता था – मैं अपना सर्वोत्तम कलात्मक व्यक्तित्व फ़िल्म को दे सकता था, लेकिन उस सर्वोत्तम कलात्मक व्यक्तित्व को लेने वाला, उसे समझने वाला उस वातावरण में था कौन? आज भी बम्बई की फ़िल्मी ज़िन्दगी में ऐसे बहुत कम लोग हैं....फिर लौट कर तो हमीं आये। अपने उर्दू दोस्तों में सिर्फ़ मैं आया (या मण्टो क्रुद्ध हो कर पाकिस्तान चला गया।) बाकी सारे उर्दू लेखक और कवि वहीं बने हैं – कृष्ण, इस्मत, बेदी, आदिल,

साहिर, मजरूह, अली सरदार जाफ़री, अख्तरुल ईमान, कैफ़ी, जाँ निसार अख्तर। और अब तो राही मासूम रज़ा भी वहाँ चले गये हैं। – और हिन्दी वालों में नरेन्द्र शर्मा, भगवती चरण वर्मा, अमृतलाल नागर, भगवती प्रसाद वाजपेयी वापस आये....बाकी नेपाली और प्रदीप तो वहीं रहे।

वि० : फ़िल्मी दुनिया की इन बुराइयों से हार कर आपका चले आना क्या आपकी ओर से पराजय की स्वीकृति माना जाय?

अ० : विजय की क्यों नहीं? कम-से-कम मैं ऐसा ही मानता हूँ। यदि मैं फ़िल्मी दुनिया में जा कर वहाँ डूब जाता तो यह मेरी घोर पराजय होती।....बात बहुत व्यक्तिगत है, मैं यहाँ उसे दोहराना नहीं चाहता था, संकेत तो मैं पहले कर चुका हूँ, लेकिन मैं बिना उस व्यक्तिगत बात के ब्योरों में जाये, तुम्हें समझा नहीं सकता। मैंने तीन ही वर्ष पहले नयी शादी की थी। तीसरी। पत्नी मेरी सामन्ती स्वभाव की थी, जिन्दगी को देखने का, जीने का ढंग उसका बड़े लोगों वाला था। वैसे ही बड़े उसके सपने और आकांक्षाएँ थी। लेकिन यह मुझे तब मालूम हुआ, जब मैंने शादी कर ली। मैं थोड़ी आमदनी वाला ग़रीब-तबियत आदमी था, जिसे ग़रीबी से कुछ वैसी नफ़रत भी नहीं थी। मैं बहुत कमाना नहीं चाहता था। बस, इतना कमाना चाहता था, जिससे जरूरतें पूरी हो जायें और वाफ़र समय में अपनी इच्छानुसार लिख सकूँ। ....लेकिन नयी-नयी शादी हुई थी। मैं उससे खुल कर कुछ नहीं कहना चाहता था। यही चाहता था, वह अपने आप समझ जाय।....कई बार जब मैं उसके रहने का ढंग देखता था, या उसके सपने सुनता था, या उसके बैरिस्टर और ज़मींदार नाना के घर क्या होता था, यह सुनता था तो मैं हँस कर कहा करता था – 'तुमने मेरे साथ क्यों शादी कर ली, तुम्हें हज़ार रुपया कमाने वाले किसी आई० सी० एस० से लौ लगानी चाहिए थी।' मेरी पत्नी कुछ भी समझे बिना कह देती, 'आप ही इतना कमा लेंगे।' अब मैं उसे कैसे बताता कि मैं नहीं कमाना चाहता... फिर कुछ ऐसी बातें हुई ....उसने मिलिट्री की नौकरी कर ली....मैंने भी कर ली....और हम कुछ ऐसा जीवन जीने लगे, जो मैं समझता था, मेरे लेखक के लिए घातक था और मेरे अहं को आहत करता था। तब मैंने तय किया, मैं पहले इसे पैसा कमा कर दिखाऊँगा और तब बताऊँगा कि मैं कमाना नहीं चाहता। मण्टो तो मुझे पहले भी बुला चुका था। अब के उसने बुलाया तो चला गया। मैंने दायें-बायें रुपया कमाया। वेतन तो दो साल में मेरा (यह १६४६ की बात है) नौ सौ रुपये महीना हो गया था, पर मैं सात-आठ सौ ऊपर से कमा लेता – किसी दूसरे के लिए कहानी डायलॉग या गाने लिख कर – तब एक

दिन मेरी पत्नी ने हँस कर कहा, "आप तो हज़ार की बात कहा करते थे, अब तो आप पन्द्रह सौ कमा रहे हैं। मैं न कहती थी, आप ही कमा लेंगे।"

मैं तो दो वर्ष से इसी क्षण की प्रतीक्षा कर रहा था। मैंने कहा, "मैं लाखों रुपये कमा सकता हूँ, लेकिन तुमने कभी देखा भी है कि मैं खुश हूँ?"

"क्यों? खुश नहीं हैं?"

"कैसे?" मैंने कहा, "तुमने एक शायर से शादी की और उसे रुपया कमाने की मशीन बना दिया। मैंने तो वादा किया था कि अच्छा पति बनने की कोशिश करूँगा, सो कोशिश कर रहा हूँ, लेकिन यह मेरी नाकामी नहीं, तुम्हारी नाकामी है।"

मेरी पत्नी बहुत नाराज़ हो गयी। अंग्रेज़ी में बोलने लगी कि आपको वहम हुआ, आपने मुझे यकसर ग़लत समझा है....आदि....आदि....

तब मैंने कहा, "देखो, मैं 'गिरती दीवारें' लिख चुका हूँ और मैं जानता हूँ कि यह बहुत अच्छा उपन्यास है। मैंने बहुत अच्छे नाटक लिखे हैं और अब मैं फ़िल्मों के लिए वाहियात डायलॉग लिखता हूँ, और गधों की ग़ुलामी करता हूँ, जिन्हें मैं पास तक न बैठने दूँ। तुम एक बार भी कहतीं – 'अश्क जो, यह सब आप क्या कर रहे हैं, आप तो कथाकार और कवि थे' – तो मैं तुम्हें दोष न देता।...."

बहरहाल पत्नी बहुत बमकी कि मैंने फ़िल्म में आने से पहले खुल कर यह सब क्यों नहीं कहा; कि मैं फ़ौरन इस्तीफ़ा दे दूँ। मेरा तीन साल का कॉण्ट्रैक्ट था। मैं चाहता तो एक साल और रह सकता था। लेकिन मैंने कह दिया, मैं आगे काम नहीं करूँगा।....और मैं इसे अपनी पराजय नहीं समझता। मैंने बाद में जितना लिखा है, मेरा वह कृतित्व इस बात का साक्षी है कि मैंने ठीक किया था।

वि० : 'आपका' से मेरा मतलब केवल आपसे याने 'अश्क' से नहीं, 'आप लोगों' से था। अगर आप फ़िल्मी ज़िन्दगी को इतना बुरा समझते हैं तो क्या आप मानते हैं कि फ़िल्मी दुनिया में या उसके आस-पास कोई भी अच्छा और प्रबुद्ध कलाकार नहीं है? यदि यह बात है तो आपके उर्दू दोस्तों की एक पूरी पीढ़ी – जिनके सदस्यों को आप अच्छे कथाकार और कवि मानते हैं – आज तक वहाँ बनी हुई है? क्या आप उनको सम्वेदनशील नहीं मानते? क्या आप यह कहना चाहेंगे कि आपके उन समकालीनों ने, जो आज तक फ़िल्म में बने हुए हैं, कला और सम्वेदना की उस मजबूरी को उतनी शिद्दत से महसूस नहीं किया, जितनी शिद्दत से आपने किया है?....या यह माना जाय कि उन लोगों को वे सारी सुविधाएँ मिल गयीं, जो आपको नहीं मिलीं?

अ० : देखिए, मेरी पीढ़ी में दो तरह के लेखक वहाँ गये – उर्दू के लेखक और हिन्दी के लेखक। हिन्दी का एक भी ऊँचे दर्जे का लेखक वहाँ नहीं टिका, उर्दू के प्रायः सब लेखक वहाँ रह गये। इसका कारण – जैसा कि साधारणतः प्रचारित किया जाता है – उर्दू भाषा की मिठास और हरदिल-अज़ीज़ी नहीं। साहिर और मजरूह से पहले वहाँ प्रदीप और नरेन्द्र शर्मा की तूती बोलती थी। 'अछूत कन्या,' 'बन्धन,' 'कंगन,' 'झूला,' 'किस्मत' क्या हिट फ़िल्में नहीं सिद्ध हुईं और क्या इनके गाने एकदम हिन्दी नहीं थे। प्रदीप शशधर मुकर्जी के साथ झगड़ा करके और मुकर्जी के अपार विद्वेष और सैडिज़्म का शिकार हो कर अपना नाम और आसन खो बैठे और नरेन्द्र शर्मा 'बॉम्बे टॉकीज़' टूटने के बाद – फ़्री लांसर को फ़िल्म में जो कुछ करना पड़ता है, आपको उसके लिए अनुपयुक्त पा कर – फ़िल्म छोड़ कर 'विविध भारती' में आ गये! वरना उन दोनों के हिट गीत उसी तरह जनता द्वारा गाये जाते थे, जैसे आज मजरूह या साहिर के। बात भाषा की रवानी और मिठास की नहीं। लिखने वाले हिन्दी भी निहायत आसान और मीठी लिखते हैं और हिन्दी गीत की मिठास का मुकाबिला उर्दू गीत कभी नहीं कर सकता। ग़ज़ल ज़रूर उर्दू में है, लेकिन सिर्फ़ ग़ज़लों के बल पर फ़िल्में नहीं चलतीं और जैसी भोंडी और घटिया ग़ज़लें फ़िल्मों में चलती हैं, उसके लिए साहिर और मजरूह की ख़ास ज़रूरत नहीं :

चौदहवीं का चाँद हो या आफ़ताब हो
जो भी हो तुम ख़ुदा की कसम लाजवाब हो

इन पंक्तियों में ऐसी कौन-सी बारीकी है, जिसे लिखने में –

जब तुम ही गये परदेश लगा कर ठेस ओ प्रीतम प्यारा
दुनिया में कौन हमारा

– अपने ज़माने की गोल्डन जुबली हिट फ़िल्म 'रतन' का यह अत्यन्त लोकप्रिय गाना लिखने वाले मधोक को कोई पहाड़ ढाना पड़ता?

और मजरूह के पापुलर दोगाने –

तू कहाँ गया था : तेरी मर जाये सजनियाँ
तू कहाँ गयी थी : तेरा मर जाये साँवरिया

को 'सफ़र' का पापुलर दोगाना –

हमारी गली आना : अच्छा जी
हमें ने सताना : अच्छा जी

लिखने वाले 'नेपाली' नहीं लिख पाते!

(यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि 'चौदहवीं का चाँद' की कामयाबी सिर्फ़ साहिर की ग़ज़लों और नज़्मों के बल पर नहीं, उसमें गुरुदत्त और वहीदा रहमान की ऐक्टिंग का भी हाथ था, जबकि 'रतन' का नायक करन दीवान था, जो निहायत ही प्रभावहीन नायक था और नायिका 'स्वर्णलता' थी, जिसे नज़ीर ने रख लिया था और जो नायिका हो गयी थी। उसमें भी नायिकाओं जैसी कोई बात न थी – न चेहरा, न फ़िगर, न अदा। 'रतन' में तेरह गाने थे और तेरह-के-तेरह लोकप्रिय हुए थे।)

०

उर्दू वाले फ़िल्मी दुनिया में यदि इतने लम्बे अर्से तक सिक्का जमाये रह सके तो इसके दो कारण हैं :

१ – वे फ़िल्मी दुनिया की जिन्दगी के लिए, जिसमें दिमाग़ की उतनी ज़रूरत नहीं, जितनी मजलिस-बाज़ी, मस्केबाज़ी और शराब-बाज़ी की, पूरी तरह उपयुक्त थे। यही कारण है कि वो उसमें रम गये।

२ – विभाजन के बाद उर्दू वालों के लिए संलाप के दूसरे रास्ते उत्तरोत्तर कम होते हुए, अन्ततः लगभग बन्द हो गये, जबकि हिन्दी वालों के लिए न सिर्फ़ वे और खुल गये, वरन उनमें नये मार्गों का इज़ाफ़ा भी हुआ। मेरी बात यदि छोड़ भी दो तो भगवती बाबू और अमृतलाल नागर ने फ़िल्मी दुनिया को छोड़ने के बाद विपुल साहित्य का सृजन किया है। भगवती प्रसाद वाजपेयी पहले भी काफ़ी लिखते थे, बाद में भी उन्होंने काफ़ी लिखा।

वि० : अपनी इस अनोखी स्थापना को आप जरा खोल कर समझाइए।

अ० : अनोखी स्थापना नहीं, यह सिर्फ़ हकीकत का इज़हार है, कोई माने या न माने। मैं अपनी बात ज़रा खोल कर कहता हूँ।...जिन लोकप्रिय गानों के बोल मैंने ऊपर दिये हैं – मुखड़ा सोचने में जो भी वक्त लगे सो लगे – लिखने में उन्हें दस मिनट से ज़्यादा अर्सा नहीं लगता और मेरे ज़माने में ऐसे गीत का एक हज़ार मिलता था। आज के ज़माने में सुनता हूँ, एक लाख मिलता है (फ़िल्मी दुनिया की अतिशयोक्ति को बाद भी दे दें तो दस हज़ार तो मिलता ही होगा।) लेकिन गीत लिखना जितना आसान है, उससे कहीं ज़्यादा मुश्किल प्रोड्यूसर या डायरेक्टर को पटाये रखना है, क्योंकि यदि जुबली फ़िल्में ही गीतकार को फ़िल्म में शीर्षस्थ स्थान दिलाये रखतीं तो 'रतन' के बाद मधोक गुमनामी की ज़िन्दगी बसर करने पर मजबूर न होते और अपनी ख्याति की चोटी पर बैठे प्रदीप, शशधर मुकर्जी को नाराज कर देने के कारण, फ़िल्मी दुनिया से एक अर्से के लिए ग़ायब न हो जाते।

'फ़िलिमस्तान' से उनका अनुबन्ध था कि उन्हें बारह सौ रुपया महीना मिलेगा, लाभ के वे भागीदार होंगे, लेकिन प्रदीप को इस बात का ज़ोम था कि 'बॉम्बे टॉकीज़' की फ़िल्में उन्हीं के कारण हिट हुई हैं। मुकर्जी, जैसा कि मैं उन्हें जानता हूँ, निहायत विद्वेषी और यन्त्रणाप्रिय आदमी हैं। वे प्रदीप को बारह सौ रुपये महीना देते रहे, लेकिन उन्होंने प्रदीप का एक भी गीत फ़िल्म में स्वीकार नहीं किया। दूसरी जगह अपने नाम से वे लिख नहीं सकते थे और दो साल ही में प्रदीप फ़िल्मी दुनिया में रहते हुए भी ग़ायब हो गये।

साहिर या मजरूह यह बात न समझते हों ऐसी बात नहीं! पूरी तरह समझते हैं और अपने डायरेक्टरों और प्रोड्यूसरों को पटाये रखते हैं। फ़िल्मी दुनिया में ज़्यादा काम पार्टी-बाज़ी से चलता है सो ये लोग खूब पार्टियाँ देते हैं। लेकिन मैं कल्पना भी नहीं कर सकता कि भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर या नरेन्द्र शर्मा कभी वैसी पार्टियाँ दे सकते हैं, जैसी मैंने साहिर या कृष्ण के यहाँ देखी हैं। नागर तो भाँग पीते हैं, शराब पीते मैंने उन्हें नहीं देखा। भगवती बाबू और नरेन्द्र शर्मा को नवीन जी के साथ पीते देखा है। लेकिन वह कोई पीने जैसा पीना नहीं था। गुनाह करने की तरह का वह पीना था। मुश्किल से एक-एक दो-दो पैग उन्होंने लिये होंगे। साहिर के यहाँ फ़िराक के सत्कार में एक पार्टी मैंने देखी है, जिसमें लोग इतना पी गये थे कि होश में नहीं रहे। इस्मत शराब का गिलास हाथ में लिये नशे में कह रही थीं – अंग्रेज़ी में – कि उन्हें हराम का बच्चा जनने की बड़ी इच्छा है, बस यही डर है कि उनका पति खुदकुशी कर लेगा। सरदार और कैफ़ी की बीवियाँ पीये हुए क्या बक रही थीं, मैं क्या लिखूँ और खुद सरदार शहर के लौण्डेबाज़ों की ज़बान में गालियाँ दे रहे थे और किसी को किसी का मुँह बकोटने के लिए कह रहे थे....मैंने कई फ़िल्मी पार्टियाँ देखी हैं, वे कोई बौद्धिकों की मजलिसें तो होती नहीं। उनमें ऐसे ही लोग मज़ा ले सकते हैं, जो खूब पी-पिला सकें, गन्दे लतीफ़े सुन-सुना सकें। या दूसरे बारीक ढंग से प्रोड्यूसरों को मस्का लगा सकें। सो यदि वे लोग अभी तक फ़िल्मों में बने हुए हैं तो भाषा की मिठास या उर्दू की हरदिल-अज़ीज़ी के कारण नहीं.... पटने-पटाने में माहिर और पीने-पिलाने, बैठक-बाज़ी में निपुण होने के कारण!

हाँ, मैं यह मानता हूँ कि विभाजन के बाद उर्दू का भविष्य धुँधला न गया होता तो मैं साहिर को बात नहीं कहता, लेकिन कृष्ण और बेदी तो ज़रूर उसे छोड़ गये होते। कोई वजह नहीं कि यदि उर्दू आज़ाद भारत की ज़बान होती – हिन्दी के साथ – तो कृष्ण और बेदी उस ज़लील माहौल में रहने और धीरे-धीरे अपने तमाम एहसास को कुन्द करते चले जाने की

बजाय नरेन्द शर्मा की तरह 'विविध भारती' जैसे किसी प्रोग्राम के प्रोड्यूसर न हो जाते और सरदार ने जैसे 'ग़ालिब' और 'मीर' के दीवान मुरत्तब किये हैं, कोई वैसा ही दूसरा काम न करते।

अब ये लोग बम्बई की ज़लालत-भरी ज़िन्दगी में रहते हैं, ज़लील होते हैं, अपमान सहते हैं और शराब पी कर दूसरों का अपमान करके अपने घाव सहलाते हैं। दूसरा कौन-सा चारा उनके सामने है? उच्चकोटि के शायर होते तो छोड़ आते, लेकिन सरदार जाफ़री, जोश मलीहाबादी की तरह, महज लफ़्फ़ाज़ हैं। जैसे जोश की शायरी कभी दिल को नहीं छूती, सरदार की शायरी भी नहीं छूती। रहे साहिर, सो अपनी अच्छी-से-अच्छी नज़्मों में वे फ़ैज़ की खासी कमज़ोर कार्बन कापी से ज़्यादा कुछ नहीं है। मजरूह और अख़्तरुल ईमान और जाँ निसार अख़्तर अच्छे शायर हैं – लेकिन अख़्तर कभी गीत नहीं लिखते, डायलॉग लिख कर रोज़ी चलाते हैं। मजरूह गीत लिखते हैं तो शायरी का दामन छोड़ बैठे हैं, बरसों में एकाध शे'र भले ही कह दें, वरना मछली के शिकार में अपनी तकलीफ़ को भूलते हैं। जाँनिसार अख़्तर को मैं नहीं जानता। उन्हें जब देखा है, अफ़सोस हुआ है। कृष्ण और बेदी को जानता हूँ। उनके बारे में सोच कर बेपनाह तकलीफ़ और उदासी के अलावा मन में कोई दूसरा जज़्बा नहीं उभरता....(मेरी यह बात कृष्ण को भी बुरी लग सकती है और बेदी को भी) लेकिन मैं क्या करूँ कि मैं उनके अदब का कायल हूँ, बरसों उनके साथ रहा हूँ और मुझे उनकी मजबूरी से तकलीफ़ होती है।

वि० : लेकिन 'ग़ालिब' भी सुनता हूँ कि पीते थे, कसीदे भी लिखते थे, जुआ भी खेलते थे (और भी न जाने क्या न करते होंगे।) पीने-पिलाने और मौज-मज़ा लेने वाले अपने दोस्तों के प्रति आपके मन में कटुता क्यों है? जब आपने मान लिया कि फ़िल्म की विधा बहुत सशक्त विधा है तो यदि आपके किसी दोस्त ने उसे अपना लिया तो क्या बुरा किया?

अ० : कटुता मेरे मन में नहीं। मैं हिन्दी वालों की बात कह रहा था कि यह सब उनके बस का नहीं है। मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि बेदी अथवा कृष्ण ने अपने साहित्य को उतना वक्त दिया होता तो उन्होंने निश्चय ही महान रचनाएँ सृजी होतीं। अब भी उनकी कुछ रचनाएँ हमेशा याद रखी जायेंगी। फ़िल्म में जा कर वे सत्यजित राय, बिमल राय या हृषीकेश मुकर्जी भी बन गये होते तो मुझे शिकायत न होती। कृष्ण ने तो एक बार अपना नाटक 'सराय के बाहर' फ़िल्माया भी था; उस फ़िल्म को कभी डिब्बे से बाहर निकलना नसीब नहीं हुआ। बेदी ने कई हिट फ़िल्मों के डायलॉग लिखे हैं,

लेकिन हिट फ़िल्मों के डायलॉग तो कई ऐसे लोगों ने भी लिखे हैं, जो तृतीय कोटि के लेखक हैं। रही प्रोडक्शन की बात तो बेदी की 'गर्म कोट' और 'रंगोली' मैंने नहीं देखीं, 'दस्तक' देखी है। शोर है कि बॉक्स ऑफ़िस पर हिट हुई है। मैं नहीं समझता कि हिट हुई है। किसी एक सिनेमा में पच्चीस छोड़, वह पन्द्रह हफ़्ते भी नहीं चल सकती। जहाँ तक फ़िल्म की क्वालिटी का प्रश्न है, बेदी ने भी कहानी किसी रूसी लेखक से ली है (क्योंकि अपने नाटकों के संग्रह – 'सात खेल' – में, जहाँ से 'दस्तक' की कहानी – 'नक्ले-मकानी' नामक नाटक से – ली गयी है, बेदी ने यह स्वीकारा है) गुलज़ार ने 'कोशिश' में भी सुनता हूँ किसी जापानी फ़िल्म पर डाका मारा है, लेकिन 'दस्तक' की अपेक्षा 'कोशिश' हर लिहाज से अच्छी फ़िल्म है। महज़ गैग के लिए उसमें एक भी गैग नहीं। जबकि बेदी को 'दस्तक' में फूहड़ गैग देने पड़े हैं। आज आज़ादी के ज़माने में भी किस मुसलमान घर की खिड़कियाँ, बिना पर्दों के, चौपाट खुली रहती हैं कि नहाती हुई नंगी औरत दिखायी दे जाय! पूरी कहानी में बोर होते रहने या तपिश मिटाने के लिए धरती पर लोटने के सिवा नायिका और कुछ नहीं करती। 'फागुन' – जो बेदी ने अपने लड़के को यह दिखाने के लिए बनायी कि वे ऑफ़बीट नहीं, पॉपुलर फ़िल्में भी बना सकते हैं – बुरी तरह फ़ेल हो गयी।....बेदी को चाहिए था कि फ़िल्में बनाना अपने लड़के नरेन्द्र पर छोड़ कर स्वयं अपना ज़्यादा वक्त साहित्य को देते...उनका लड़का तो चालू फ़िल्में बनाता-बनाता शायद कभी (यद्यपि आशा नहीं) प्रेस्टिज फ़िल्म भी बना देगा (जैसा कि उसने मुझसे कहा था) लेकिन बेदी वैसी पॉपुलर फ़िल्म बना पायेंगे, मुझे सन्देह है। बेदी पॉपुलर लेखक नहीं, ऊँचे दर्जे के शिल्पकार और लेखकों के लेखक हैं। और बना भी लें तो इस मैदान में वे सत्यजित राय तो बनने से रहे।....

मुसीबत यह है कि शायद अन्तर में यह जानते हुए भी बेदी यह भरम पालने पर विवश हैं कि वे कोई ऐसी फ़िल्म बनायेंगे, जो तहलका मचा देगी। वे क्या करें? पाकिस्तान बनने के बाद उर्दू का रुतबा यूँ ही कम हो गया। उधर उनके लड़के ने – जो न बेदी जितना पढ़ा है, न बौद्धिक है – एक के बाद एक सफल (भले ही पॉपुलर और फ़ार्मूलाबद्ध) फ़िल्में बनायीं। बेदी कहते हैं कि मेरे लड़के को मुझसे ईर्ष्या है। उन्होंने अपने एक लेख में यह लिखा भी है। लड़के को तो नहीं, लेकिन बेदी को ज़रूर लड़के से ईर्ष्या है (जबकि उन्हें अपने लड़के पर गर्व होना चाहिए था।) उसको पॉपुलर फ़िल्म बना कर दिखाने की बजाय, यदि उन्हें फ़िल्में ही बनानी हैं तो बेदी को 'दस्तक' से बेहतर फ़िल्म बनानी चाहिए थी....

इस दोहरी मजबूरी में उन्हें कितना ज़लील होना पड़ता रहा है,

इसकी एक मिसाल देता हूँ।

कुछ बरस पहले की बात है। 'दस्तक' और 'फागुन' से पहले की। मैं एक बार बम्बई गया हुआ था। बेदी ने डायरेक्टर रवेल के लिए एक कहानी लिखी हुई थी। उन्होंने कहा, "चलो यार अश्क, तुम भी चलो, साथ में कोई दाद देने वाला हो तो रंग जमता है। रवेल कुछ इण्टरेस्ट खो बैठा है। उसकी बंगालिन बीवी, सुनता हूँ, किसी बंगाली कहानी में इण्टरेस्टेड है। पेशगी देने के बाद उसने ज़्यादा दिलचस्पी नहीं ली।"

मैं साथ हो लिया। जुहू के प्रसिद्ध होटल 'सन एण्ड सैण्ड' में हम पहुँचे। डायरेक्टर रवेल अपने दो असिस्टेण्टों के साथ मौजूद थे। उन्होंने पूछा – "कुछ पियेंगे?" हम सुबह खाना खा कर घर से निकले थे। हमने क्षमा चाही। बेदी फ़िल्म की कहानी, जिसमें जगह-जगह डायलॉग थे, सुनाने लगे।

मैं नहीं जानता, तुमने बेदी को कहानी या नाटक पढ़ते सुना है या नहीं। वे अच्छा पढ़ते हैं। कभी उनकी वाणी में व्यंग्य-भरी तल्खी आ जाती है, कभी वे हँस देते हैं, कभी आँखें भर लाते हैं – अतिशयोक्ति नहीं, दुख-भरे सम्वादों अथवा स्थलों में सचमुच बेदी की आँखें भर आती हैं। ढाई घण्टे तक बेदी पूरे जोश-खरोश और अदा से स्क्रिप्ट सुनाते रहे। मैंने कई स्थलों पर दाद भी दी। लेकिन वह डायरेक्टर (जो डील-डौल और सूरत-शक्ल ही से जाट मालूम होता था और जिसकी फ़िल्म 'मेरे महबूब' हिट हो गयी थी) और उसके वे असिस्टेण्ट एकदम भावनाहीन और बेहिस बैठे रहे। क्योंकि डायरेक्टर रवेल ने (जैसा कि बेदी के बाद में उसे कोसते हुए ज़िक्र भी किया) अपनी पत्नी की पसन्दीदा कहानी किसी दूसरे को लिखने के लिए दे दी थी। पेशगी जो पाँच हज़ार दे दिया, वह दे दिया। बाकी उन्हें देना नहीं था, कहानी लेनी नहीं थी, प्रशंसा कैसे करते?

मैं सच कहता हूँ, मैं बेदी की जगह होता तो एक-दो प्रसंगों के बाद ही कहानी पढ़ना बन्द करता और उठ आता।....लेकिन बेदी कथाकार ही नहीं, दार्शनिक भी हैं और सब कुछ सहते हुए निबाहे जाते हैं। मेरे जैसे तुनक-मिज़ाज घर बैठते हैं, फ़िल्मों में नहीं रहते। वहाँ की ज़िन्दगी का यह रोज़मर्रा है।

अब बताओ, ऐसे में कोई स्वाभिमानी लेखक उस ज़िन्दगी में कैसे चल सकता है – खास तौर पर जब उसे प्रेमचन्द का अनुभव भूला न हो और फ़िल्मों में जाने पर उसने वहाँ का वातावरण कुछ ज़्यादा भिन्न न पाया हो।....

इस प्रसंग को बन्द करने से पहले इतना और कहूँगा कि यदि मेरे उर्दू

साथियों के वहाँ टिके रहने या सफल होने का कारण उर्दू भाषा की प्रवहमानता और मधुरता ही होती तो प्रेमचन्द यूँ उसे न छोड़ आते और वहाँ लगातार बने रहते। लेकिन वहाँ के कटु अनुभवों के कारण न केवल वे स्वयं बनारस अपने गोशे-आफ़ियत (शान्ति निकुंज) में वापस आ गये, वरन अपने बाद वहाँ जाने की इच्छा रखने वालों को खबरदार भी करते आये.... भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा और अमृतलाल नागर की बात मैं नहीं जानता, लेकिन जब मैं फ़िल्म में गया तो प्रेमचन्द के पत्र मेरे सामने थे और उन्होंने तब जो लिखा था, आज भी वह सच है।

वि० : क्या ऐसी फ़िल्म नहीं हो सकती, जिसमें आम लोगों का भी खयाल रखा गया हो और खास लोगों का भी – जिसमें फ़ार्मूला भी हो और शब्द गढ़ूँ तो कहूँ कि 'आॅफ़बीटपन' भी !

अ० : जरूर हो सकती है। ऐलिन विल्किंसन ने अपनी पुस्तक में जिन पन्द्रह निहायत कामयाब फ़िल्मों का जिक्र किया है, वे सब लगभग ऐसी ही थीं। अभी मैंने 'कोशिश' का जिक्र किया है, वह ऐसी ही फ़िल्म थी। गुलज़ार की 'मेरे अपने' भी ऐसी ही फ़िल्म है। अभी फ़िल्म इंस्टीट्यूट (पुणे) से जो लोग आ रहे हैं, अगर उनमें से किसी ने परम्परा की तमाम अच्छाइयाँ ले कर और किसी नये प्रयोग को मिला कर कोई नयी कलाकृति बना ली और वह बॉक्स आॅफ़िस पर भी हिट हो गयी तो फ़िल्म उद्योग का रवैया, वहाँ का वातावरण – कुछ-कुछ बदल जायगा। उन लोगों को जनता की नैतिकता या भलाई से कुछ लेना-देना नहीं। उनका खुदा पैसा है। अगर उन्हें इस बात का विश्वास हो जाय कि किसी फ़िल्म में फ़िल्मी प्रोड्यूसरों और फ़नांसरों को गालियाँ देने से फ़िल्म बॉक्स आॅफ़िस पर हिट हो जायगी तो उन्हें इसमें इनकार न होगा कि फ़िल्म में दो-चार दृश्य ऐसे रख दिये जायँ जिनमें प्रोड्यूसरों को लगातार मल्लाहियाँ सुनायी जायँ।

वि० : इधर जो कुछ प्रयोग-धर्मा प्रयास हुए हैं, उनके बारे में आप का खयाल है?

अ० : ज्यादा मैंने नहीं देखे। बीच की पीढ़ी के कुछ हिन्दी कथाकार फ़िल्म फ़नांस कॉर्पोरेशन तथा फ़िल्म सेंसर बोर्ड में धँस गये। और चूँकि वे कर्ज दिलवा सकते थे, इसलिए उनकी कहानियाँ और नाटक फ़िल्माने को कुछ नये डायरेक्टर तैयार भी हो गये। लेकिन एक फ़िल्म बनी, डिब्बे में बन्द हो गयी, दूसरी बनी डिब्बे में बन्द हो गयी। इस तरह कॉर्पोरेशन पब्लिक का रुपया कब तक देती जा सकती है? कमलेश्वर की ही ज्यादा कहानियाँ फ़िल्मायी गयी हैं। 'फिर भी' देखी थी। नितान्त असफल थी। राकेश की 'उसकी रोटी' के बारे में प्रसिद्ध निर्देशक सुखदेव का कमेण्ट मैंने पढ़ा है कि उसे फ़िल्म देखते हुए नींद आ गयी। 'सारा आकाश' और 'भुवन शोम' की तारीफ़ सुनी है। कौशल्या ने 'सारा आकाश' देखी थी। वह उसकी बहुत तारीफ़ करती है। दुर्भाग्य से वो मैंने देखी नहीं। अगर 'उसकी रोटी' की जगह प्रेमचन्द की 'कफ़न' ली गयी होती और 'फिर भी' की जगह प्रसाद की 'गुण्डा' और फ़िल्म निर्देशक अपना काम भी जानता तो सुखदेव को नींद नहीं आती। लेकिन राकेश या कमलेश्वर अपना लिखना-पढ़ना छोड़ फ़िल्म कॉर्पोरेशन के चक्कर में प्रेमचन्द और प्रसाद को जमाने तो गये नहीं थे।.... मेरे कहने का यह मतलब है कि आॅफ़बीट फ़िल्मों के लिए यदि साहित्य की शरण में जाना हो तो वो कहानियाँ या उपन्यास चुने जाने चाहिएँ, जिन्हें साहित्य ने उत्कृष्टता और लोकप्रियता – दोनों की सनद दे दी हो।.... शशधर मुकर्जी से जो भी चीज लेने वाली है, वह ली जाय और नये-से-नये लेखक की चर्चित और लोकप्रिय कृतियाँ ली जायँ – तब पुरानी धारा बदल सकती है।

वि० : मैंने इधर की प्रयोग-धर्मा फ़िल्में नहीं देखी, लेकिन मेरे इंग्लिस्तान आने से पहले कई अच्छी फ़िल्में आयीं, जिनकी विषय-वस्तु साहित्य के स्तर पर भी अच्छी थी और फ़िल्म के रूप में उनका प्रस्तुतिकरण भी बहुत अच्छा रहा – बिमल राय की 'परख' आयी; गुरुदत्त की 'काग़ज के फूल' आ चुकी थी; कृष्ण चोपड़ा ने 'हीरा मोती' बनायी थी; त्रिलोक जेतली ने 'गोदान' बनायी; बीच में रेणु की 'तीसरी कसम' आयी। इनमें व्यापारिक सफलता के सारे फ़ार्मूले आजमाये गये थे। कथानक के स्तर पर कोई कमज़ोर कृति नहीं उठायी गयी थी और निर्देशन में भी कोई त्रुटि न थी। ऐसा भी नहीं कि इनके निर्देशक कला-मर्मज्ञ और कला-सिद्ध न रहे हों। इस सब के बावजूद आप इसका क्या, कारण समझते हैं कि अच्छी फ़िल्मों की कोई परम्परा नहीं खड़ी हो सकी, जिससे धारा के परिवर्तन का एहसास हम सब को हो सके?

अ० : मैंने इनमें से सिर्फ़ 'तीसरी कसम' देखी थी। उसे शायद बासु भट्टाचार्य ने बनाया था। उसी ने, जिसने राकेश का नाटक 'आधे-अधूरे' उन्हीं अभिनेताओं के साथ, फ़िल्माया जिन्होंने उसे दिल्ली में खेला था, और जो तब से डिब्बे में बन्द है। मुझे इस मत के लिए क्षमा करो, लेकिन 'तीसरी कसम' बहुत ही भौंडी फ़िल्म थी। राजकपूर की ऐक्टिंग के बावजूद, जिसे मैं बहुत अच्छा और सेंसिटिव अभिनेता मानता हूँ।

वि० : उसकी तो सभी तारीफ़ करते हैं, आप अपनी बात जरा समझा कर कहिए।

अ० : अगर वह रेणु की कहानी न होती और राज कपूर उसका नायक न होता तो यकीन मानो, मैं बीच ही में उठ कर चला आता। जैसा कि मैंने कहा, राज कपूर को मैं बहुत ही सेंसिटिव ऐक्टर मानता हूँ और जितनी फ़िल्में मैंने आज तक देखी हैं—ऐक्टिंग के लिहाज से मुझे 'जागते रहो' (याने उसमें राजकपूर की ऐक्टिंग) सर्वाधिक पसन्द है और आज इतने वर्षों बाद कभी-कभी उसके किसी-न-किसी दृश्य की याद आ जाती है।....लेकिन 'तीसरी कसम' के भोंडेपन में राजकपूर की ऐक्टिंग भी मुझे नहीं भायी। इसका कारण शायद यही है कि फ़िल्मकार का तमामतर ध्यान, जो उस सीधे-साधे, भोले-भाले गाड़ीवान पर होना चाहिए था—('जागते रहो' का उस प्यासे ग़रीब मजदूर पर था।)—'तीसरी कसम' में नायिका वहीदा रहमान पर केन्द्रित हो गया—एक-के-बाद एक कितने ही नाच....और वह बात ग़ायब हो गयी, जो कहानी का प्राण थी—फ़िल्म खत्म होते-न-होते कुछ अजीब-सी कड़वाहट ज़बान पर आ गयी। मेरी यह मान्यता है कि यदि कभी किसी साहित्यिक कृति पर फ़िल्म बनायी जाय तो निर्देशक न केवल उसकी प्रमुख थीम को उभार दे, वरन उसके मर्म पर भी उँगली रख दे। वरना साहित्यिक कृति को फ़िल्माने की क्या ज़रूरत है? उदाहरण के लिए मैं चार फ़िल्मों का जिक्र करूँगा, जो साहित्यिक कृतियों पर बनी हैं और जिनके निर्देशकों ने, उन्हें बहुत सफलता से बनाया है—मेरा संकेत 'ऑफ़ ह्यूमन बॉण्डेज,' 'ब्रदर्ज कैरामाजोव,' 'वॉर एण्ड पीस' तथा 'केन म्यूटिनी' की ओर है। इन चारों फ़िल्मों ने रचनाओं के साथ पूरा इंसाफ़ किया है। रचनाएँ पढ़ कर फ़िल्म देखने में लुत्फ़ आता है, फ़िल्म देख कर फिर रचना पढ़ने को मन होता है। इनमें भी 'ब्रदर्ज कैरामाजोव', जिसमें युल ब्रिनर काम करता है और 'केन म्यूटिनी', जिसमें हमफ़री बोगार्ट काम करता है, अद्वितीय हैं।

वि० : यह तो हुई आपकी धारणाओं की बात। अब तक आपकी बातचीत से लगता है कि फ़िल्मी माध्यम के प्रति आपकी आस्थाओं को कहीं बहुत गहरी ठेस लगी है। और फ़िल्म को ले कर भारत में जो वातावरण बन चुका है, उसके प्रति आप कहीं बहुत अधिक निराश हो चुके हैं। क्या सचमुच यही बात है?

अ० : हाँ, सच से बहुत दूर तो नहीं। हिन्दी फ़िल्म की बागडोर जिनके हाथों में हैं, सेंसर बोर्ड और फ़िल्म फ़नांस कॉर्पोरेशन में जैसे जो कुछ होता है, नये-नये बनाने वाले भी जैसी फ़िल्में बना रहे हैं और नयी फ़िल्मों को जैसे पैसा दिया जा रहा है, जिस तरह से नयी फ़िल्मों की कहानियाँ चुनी जा रही हैं, जो चुन रहे हैं और जिनकी चुनी जा रही है....कम-से-कम पिछले कुछ वर्षों में जैसे यह सब हुआ है....उसे मैंने देखा है। आगामी कुछ वर्षों में हालात बेहतर हो जायँ तो कह नहीं सकता।

वि० : आपने तो सभी पर एक सिरे ही से झाड़ू फेर दी। ऐसे अस्पष्ट वक्तव्य से काम नहीं चल सकता। स्पष्ट रूप से कुछ कहिए!

अ० : हिन्दी फ़िल्मों की बागडोर, जैसा मैंने पहले कहा, पूंजीपतियों के हाथ में है। उन्हें ऐसी फ़िल्में चाहिएँ, जो बॉक्स ऑफ़िस पर सफल हो जायें। अगर ऊँचे दर्जे की साहित्यिक कृति बॉक्स ऑफ़िस पर हिट हो सकती हो (याने उनकी नजर में उसके चांसिज़ हों) तो उसको फ़िल्माने में उन्हें कोई एतराज़ नहीं होगा (बंगाल में अधिकांश उपन्यासकारों की रचनाओं पर फ़िल्में बनती हैं कि वहाँ की आम जनता पढ़ी-लिखी है और अपने साहित्यकारों की कृतियों को फ़िल्म के पर्दे पर देखना चाहती है—हालांकि इस वस्तु स्थिति में एक हानि है। अजाने ही लेखक के दिमाग़ में फ़िल्म का दर्शक आ जाता है और उसकी रचना भावुकतापूर्ण और अतिनाटकीय हो जाती है) लेकिन बंगाल छोटा प्रान्त है। हिन्दी क्षेत्र की विशाल अनपढ़ जनता से, जो फ़िल्मों को देखने जाती है, प्रोड्यूसरों और डायरेक्टरों को यह आशा नहीं। इसलिए गुलशन नन्दा के तो सभी उपन्यासों पर फ़िल्में बन सकती हैं, हिन्दी साहित्यकारों की गम्भीर रचनाओं पर फ़िल्में नहीं बन सकतीं—याने हमारे आम प्रोड्यूसरों या फ़नांसरों द्वारा।

अब रही फ़िल्म फ़नांस कॉर्पोरेशन की बात—तो उनके सामने अच्छे-बुरे साहित्य का प्रश्न नहीं। सरकार के दूसरे इदारों की तरह उसका भी एक रवैया है। श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास 'राग दरबारी' में एक पात्र है कालिका प्रसाद भीखमखेड़वी, जिसका पेशा सरकारी अनुदान और कर्ज़े को खाना है। सो जब फ़िल्म फ़नांस कॉर्पोरेशन के सिलसिले में तत्कालीन नये सूचना-प्रसार-मन्त्री ने एलान किया कि जनता की रुचि को बदलने के लिए सरकार आर्टिस्टिक और ग़ैर फ़ार्मूला या साहित्यिक फ़िल्में बनाने वालों को कर्ज देगी तो हिन्दी साहित्यकारों में भी कुछ कालिका प्रसाद भीखमखेड़वी निकल आये। नयी पीढ़ी के तीन तिलंगे—राकेश, यादव और कमलेश्वर, जो अपने नये कथाकार होने का भरपूर शोर मचा कर थक गये थे और अपने आगे आने वाले नयों के हाथों अपने ही दिये गये हथियारों द्वारा पिट गये थे, जिन्हें अपनी सरगर्मी के लिए नये-नये क्षेत्र और शोर मचाने के लिए नयी सफलताएँ चाहिएँ थीं, योजनाबद्ध तरीके से फ़िल्मों की ओर पिल पड़े। फ़िल्म फ़नांस कार्पोरेशन से पैसा लेने के लिए मिनिस्टर तक पहुँच चाहिए थी; कोई डायरेक्टर चाहिए था, जो उनकी कहानियाँ चुने और फ़नांस कॉर्पोरेशन का

चेयरमैन अपना आदमी या मित्र चाहिए था....मैं कमलेश्वर और यादव की बात नहीं जानता, व्यक्तिगत अनुभव से राकेश की बात जानता हूँ....राकेश के पास एयर कण्डीशनर तो बम्बई से वापसी पर ही साथ आया था, लेकिन जब उसने महज़ कहानीकार, बना रहने के बदले थियेटर और फ़िल्मों में सफलता पाने की योजना बनायी तो उसने पहला काम यह किया कि मिलने वालों के लिए एपायण्टमेंट की क़ैद लगा दी, ताकि जब जो चाहे उसे मिलने न आ सके। फिर उसने फ्रिज की व्यवस्था की, ताकि वह शाम को बियर पी-पिला सके (जो फ़िल्मी डायरेक्टरों के साथ बैठने-उठने की पहली शर्त है — वासु चटर्जी जब-जब यादव के घर आया, बेचारी मन्नू ने सुबह देखा है कि किचन में बियर की ख़ाली बोतलें लुढ़की पड़ी हैं।) और चूँकि साथ में (बम्बइया भाषा में) कुछ मस्का-पालिश भी चाहिए और चाहने पर राकेश बड़ी बारीकी और सफ़ाई से मस्का लगा सकता था, इसलिए उसने इसकी भी व्यवस्था की। लेकिन आधुनिक ढंग से, क्योंकि वह आधुनिक लेखक था। बहुत पहले वह आधुनिक विदेशी लेखकों की तरह हाथ से लिखने के बदले टाइप पर रचनाएँ सृजने लगा था। तब वह मस्का लगाने में क्यों फूहड़ता से काम लेता। उसने दिल्ली में बहुत लोगों को खुश किया। यहाँ उनका नाम गिनाने की ज़रूरत नहीं। (मैं उसकी चतुराई और चाबुक-दस्ती की दाद देता हूँ) और (अपने देहान्त से पहले) वह फ़िल्म फ़नांस कॉर्पोरेशन की परामर्शदात्री समिति का महत्वपूर्ण सदस्य हो गया था। उसका साथी कमलेश्वर बम्बई में ही था। उसकी मदद से चेयरमैन को प्रसन्न कर सकता था....और फ़िल्मी दुनिया में नये आये डायरेक्टरों को समस्त हिन्दी साहित्य में इन्हीं तीनों मित्रों की रचनाएँ फ़िल्माने योग्य नज़र आयीं। फ़िल्म फ़नांस कॉर्पोरेशन को भी उनमें कोई त्रुटि दिखायी नहीं दी....तब यादव की 'सारा आकाश,' राकेश की 'आधे-अधूरे' और 'उसकी रोटी,' कमलेश्वर की 'दिल्ली में मौत' (मैं ठीक नाम भूल रहा हूँ) 'फिर भी' और कई दूसरी कहानियों के लिए फ़िल्म फ़नांस कॉर्पोरेशन से रुपया मिला। इनमें 'सारा आकाश' सुनता हूँ बहुत अच्छी बनी, क्योंकि दसियों से उसकी प्रशंसा सुनी। (अभी कुछ ही दिन पहले मन्नू की कहानी 'यही सच है' पर आधारित 'रजनीगन्धा' तो बॉक्स ऑफ़िस पर भी हिट हो गयी)। बाकी राकेश की 'आधे-अधूरे' डिब्बे में बन्द पड़ी है। 'उसकी रोटी' के बारे में प्रसिद्ध निर्देशक सुखदेव के कमेण्ट का उल्लेख कर चुका हूँ। कमलेश्वर की 'फिर भी' की खासी तारीफ़ 'धर्मयुग' और 'सारिका' में हुई, लेकिन फ़िल्म खासी बोगस बनी।....पाँच-सात वर्ष पहले मैं बम्बई में गया था तो कई लोगों के मुँह से यह प्रवाद सुना कि कॉर्पोरेशन का चेयरमैन कमलेश्वर के

द्वारा रुपये खाता है और कमलेश्वर जिसे दिलवाता है, उसे मजबूर करता है कि उसकी भी कहानी ले। इसीलिए उसकी इतनी कहानियों पर फ़िल्में बन रही हैं और नये डायरेक्टरों को हिन्दी साहित्य में केवल उसी की अधिकांश कहानियाँ फ़िल्माने योग्य लगती हैं।....लेकिन यह भी हो सकता है कि यह प्रवाद कॉर्पोरेशन के अध्यक्ष अथवा कमलेश्वर की उन्नति से जलने वालों ने फैलाया हो और कमलेश्वर (जो प्रतिभा में चाहे अपने दोनों मित्रों से कम हो, तेज़ी में कहीं आगे है) वे सारे तार हिला सकता हो, जिनसे फ़िल्म फ़नांस कॉर्पोरेशन से धन मिलता है — बम्बई में रहता है, 'सारिका' का सम्पादक है और बियर के, वो उर्दू शायरी की जबान में, खुम-के-खुम लुंढा सकता है। उसकी कहानियाँ फ़िल्मी रूप में कैसी बनती हैं, इससे उसे ग़रज़ नहीं (उसके दोनों साथियों को भला हो।) जैसे वह बेपरवाही से कहानियाँ लिखता रहा है, वैसे ही फ़िल्में बनवाता है। पैसा उसका तो लगता नहीं, डूबे या तरे — उसकी बला से....अब मैं इससे ज्यादा स्पष्ट रूप में और क्या बताऊँ। राकेश, यादव, कमलेश्वर की जगह दूसरे लोग आ सकते हैं। लेकिन सरकारी अनुदान के ढर्रे में ज्यादा तब्दीली नहीं हो सकती।....मैं इसलिए जानता हूँ कि वर्षों पहले मेरी पत्नी ने एक छोटे-से कर्ज़े की दरखास्त दी थी और उस सन्दर्भ में मैंने नीचे से ऊपर तक सरकारी तन्त्र को देखा था.... सरकार जब रुपया देती है तो अपवाद-स्वरूप भले ही एक-आध खरे को मिल जाय, वरना प्रायः उन सभी को मिलता है, जो देने वालों तक, अथवा देने वालों के मित्रों तक....याने जो भी महत्वपूर्ण तार है, उस तक पहुँच सकते हों।

बि० : अब तो राकेश चले गये। अब तो उनका पिण्ड छोड़िए।

अ० : क्या जब कोई आत्मीय चला जाता है, वह सचमुच पिण्ड छुड़ा जाता है? मैं समझता हूँ कि जो हमारे जितना ज़्यादा नज़दीक होता है, जिससे हम अन्तर में जितने ज़्यादा जुड़े होते हैं, चले जाने के बाद वह हमें उतना ही याद आता रहता है। उसकी वे बातें याद आती हैं, जिन्हें हम प्यार करते थे। उनसे ज़्यादा वे, जिन्हें हम नफ़रत करते थे। राकेश मेरे बहुत ही नज़दीक था। छोटे भाई के समान और बड़े भाई के समान ही मैं उसकी आलोचना भी करता था और कभी-कभी वह बहुत नाराज़ भी हो जाता था, लेकिन कुछ समय बाद मान भी जाता था....वह जब अपने कमरे में बैठा अपने कारनामे सुनाता था, मुझे बहुत तकलीफ़ होती थी। उसमें बहुत सम्वेदना थी, वह बहुत हस्सास था....क्या वह नहीं जानता था, वह क्या कर रहा है?....लेकिन वह ज़िन्दगी से बहुत कुछ चाहता था और नहीं

मानता था कि सच्चे आर्टिस्ट को बहुत कुछ छोड़ना पड़ता है।....उन तमाम लोगों के बारे में, जो उसके देहान्त पर इकट्ठे हुए और जिन्होंने तस्वीरें खिंचवाते हुए, बेदी के शब्दों में, परचे बाँटने वालों की तरह सीना कूटा, राकेश क्या सोचता था, मैं सब जानता हूँ, क्योंकि आत्मीय क्षणों में वह सब सच-सच बता देता था...लेकिन इस पर भी न केवल उन्हें बर्दाश्त करता था, वरन पटाये भी रखता था।...मुझे तब भी बहुत अफ़सोस होता था.... अब तो सिवा अफ़सोस के और कुछ रह ही नहीं गया। मैं समझता हूँ, राकेश के सन्दर्भ में साहित्य की राजगद्दी से उतर कर फ़िल्मी उद्यान की बेंच पर जा बैठने के लिए कमलेश्वर की संगति का दोष है। १९६२ तक राकेश और यादव घनिष्ट रहे और उन्होंने एक दूसरे की स्पर्धा में बहुत अच्छी कहानियाँ लिखीं। फिर राकेश यादव से छिटक कर कमलेश्वर के साथ जा मिला, जो बुनियादी तौर पर महज़ कैरियरिस्ट है, तब संगति-दोष से यदि राकेश भी साहित्य का दामन छोड़ कर फ़िल्मी कैरियर की होड़ में लग गया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। फ़िल्म फ़नांस कॉर्पोरेशन का सदस्य बनने के बाद वह उत्तरोत्तर साहित्य से दूर जा रहा था, जिसका मुझे अफ़सोस था और जिसकी मैं कटु आलोचना भी करता था।

वि० : आप नहीं समझते थे कि 'आधे-अधूरे' की फ़िल्म बननी चाहिए!

अ० : नहीं, उसमें कोई बुराई नहीं, लेकिन राकेश चाहता था कि जैसे नाटक मंच पर हुआ, वैसे ही फ़िल्म पर उतरे। मैं समझता हूँ, वैसा सोचना ग़लत है। मैंने फ़िल्म नहीं देखी, उसका विज्ञापन देखा है, जिसमें यह सब लिखा है। लेकिन स्टेज पर किये गये नाटक को फ़िल्माना उस विधा का अपमान करना है। फ़िल्म की कला और विधा रंगमंच से भिन्न है। रंगमंच का नाटक फ़िल्म पर कैसा बढ़िया उतर सकता है और जो दृश्य मंच पर नहीं दिखाये जा सकते (या उतनी यथार्थता से नहीं दिखाये जा सकते) वे फ़िल्म के पर्दे पर कितनी अच्छी तरह दिखाये जा सकते हैं, यह जानने के लिए फ्रांसीसी नाटककार ज्याँ ऐनुहे का नाटक 'बेकेट' पढ़ो और फिर उसकी फ़िल्म देखो, तुम मेरी बात के मर्म को पा जाओगे। मुझे फ़िल्म को देख कर ही ऐनुहे का नाटक पढ़ने की इच्छा हुई।

०

वि० : मानिए आप निर्देशक होते तो आप राकेश, यादव या किसी नये कथाकार की कौन-सी रचना चुनते।

अ० : राकेश की चुननी होती तो मैं 'मलबे का मालिक', 'परमात्मा का कुत्ता' या 'एक और जिन्दगी' चुनता। यादव की 'टूटना' या उसका उपन्यास 'कुलटा'।

वि० : क्यों?

अ० : कि उनमें द्वन्द्व की गुंजाइश है और द्वन्द्व नाटक का प्रमुख गुण है – चाहे वह मंच का हो या फ़िल्म का। मैं उन कहानियों के सिने-नाटक बनाता तो ऐसे लिखता और उनमें ऐसे प्रसंग जोड़ता, जो उन रचनाओं की धार को तीखा कर देते और लेखक जो कहना चाहता है, वह आम लोगों के लिए भी बोधगम्य हो जाता। उन रचनाओं में कुछ ऐसा है, जिन्हें आम जनता भी बहुत पसन्द कर सकती है।

वि० : जैसा कि मैंने पहले भी कहा – हिन्दी फ़िल्मों के बारे में आप कुछ ज्यादा ही निराश लगते हैं। इधर फ़िल्म सोसाइटियों के रूप में जो एक आन्दोलन प्रबुद्ध दर्शकों की वीथिका तैयार करने के लिए चला हुआ है और जो दिन-ब-दिन लोकप्रिय होता जा रहा है, क्या उससे आशा नहीं बँधती और क्या आपको उससे किसी उज्जवल भविष्य की अपेक्षाएँ नहीं हैं?

अ० : जब तक हमारी जनता का आम बौद्धिक स्तर नहीं उठता, इस विशाल हिन्दी जनता में दो-ढाई प्रतिशत पढ़े-लिखों की फ़िल्मी सोसाइटियों से क्या होगा?

आज़ादी के बाद हमारी सरकार ने थर्ड क्लास के डिब्बों को सुन्दर और सुविधाजनक बनाने के लिए न जाने कितना रुपया ख़र्च नहीं किया, लेकिन थर्ड क्लास के डिब्बों की ग़लाज़त कम नहीं हुई। कई बार ऐसा इत्तफ़ाक़ हुआ कि थर्ड क्लास के किसी नये डिब्बे में बैठे हुए अपार आनन्द की अनुभूति हुई है – नया डिब्बा, सनमाइका की दीवारें, नये पंखे, नये स्विच, चमचम करता वॉश-बेसिन और स्टेनलेस स्टील की सण्डास....लेकिन कुछ दिन बाद उसी गाड़ी से वापस आने पर देखा है कि पंखा नहीं चल रहा (कोई स्विच उतार कर ले गया है), सण्डास में पानी नहीं आ रहा (कोई लोहे का नल उतार कर ले गया है), वॉश-बेसिन में हाथ धो कर बालों पर कंघी करने जा रहा हूँ, कि सामने शीशा नदारद है। और फिर वह चमचम करती सण्डास निहायत गन्दी तरह इस्तेमाल की गयी है, बाहर के वॉश-बेसिन का पानी गाड़ी में दूर तक बह आया है (जाने उसमें किसी ने क्या फँसा दिया है)...जब तक सरकार एक ओर गाड़ियों में चोरी को बन्द नहीं करती (जो अधिकांशतः रेल-कर्मचारियों द्वारा अथवा उनके एक आँख बन्द कर लेने पर ही होती है) या जब तक आम जनता को लगातार पोस्टरों, भाषणों, फ़िल्मों द्वारा थर्ड क्लास के डिब्बों को ठीक से इस्तेमाल करना नहीं सिखाया जाता, जब तक आम जनता शिक्षित नहीं होती, उसका सामान्य जीवन-स्तर ऊपर नहीं उठता, इन नये डिब्बों से क्या लाभ होगा?

इसी तरह नयी फ़िल्मों से तब तक कुछ नहीं होगा, जब तक हमारी जनता में अच्छे-बुरे की तमीज नहीं आयेगी, उसमें नया सौन्दर्य-बोध नहीं पैदा होगा, उसकी शिक्षा और सोच का स्तर नहीं बढ़ेगा। तुमने 'न्यू थियेटर्ज' का ज़माना नहीं देखा – 'मंज़िल,' 'जवाब,' 'मुक्ति,' 'धरती-माता,' 'धूप-छाँव,' 'पूरन भगत,' 'सीता,' 'चण्डीदास' – एक-के-बाद-एक सुन्दर, सुरुचिपूर्ण फ़िल्म बनी, लेकिन फिर शशधर मुकर्जी ने फ़ार्मूला फ़िल्मों का सूत्रपात किया। 'बन्धन,' 'कंगन,' 'झूला,' 'किस्मत' – सभी हिट हुईं और 'न्यू थियेटर्ज' को दुकान बढ़ा देनी पड़ी और बरुआ और देवकी बोस जैसे डायरेक्टर टापते रह गये – क्योंकि जनता ने उन भौंडी और सतही जज़्बात को तस्कीन पहुँचाने वाली फ़िल्मों को सिर पर उठा लिया। (प्रयोगवादी फ़िल्मों के मौजूदा दौर में 'जय सन्तोषी माँ' और 'शोले' जैसी फ़िल्मों की सफलता किस ओर संकेत करती है? हिन्दी फ़िल्मों का फ़ाइनांसर प्रबुद्ध दर्शकों की वीथिका के लिए तस्वीरें नहीं बनाता, वह आम अनपढ़ रिक्शे-ताँगे वालों, कण्डक्टरों, मोटर ड्राइवरों, मज़दूरों, किसानों और साधारण दुकानदारों और उनके अर्धशिक्षित परिवारों के लिए फ़िल्में बनाता है, जो एक-एक सीन देखने या एक-एक गाना सुनने के लिए दस-दस बार एक ही फ़िल्म देख सकें।

०

वि० : हिन्दी फ़िल्मों की इस विफलता के लिए क्या आप हिन्दी लेखकों की उस आत्म-रति अथवा अहं को दोषी नहीं ठहरायेंगे, जो उन्हें – फ़िल्म के संश्लिष्ट माध्यम को, उसके जटिल चरित्र को समझे बग़ैर ही – सब जगह अपने आपको इम्पोज़ करने के लिए मजबूर करता है और जिसके दम पर वे दूसरों के जोखिम पर, दूसरों की पूँजी लुटाने के लिए फ़िल्म के क्षेत्र में कदम रखने की हिम्मत कर जाते हैं?

अ० : कौन इस तरह के लोग फ़िल्म में चले गये? प्रेमचन्द, हो सकता है, फ़िल्म में जाने से पहले उसके माध्यम को न समझते हों, लेकिन भगवती बाबू, अमृतलाल नागर या नरेन्द्र शर्मा नहीं समझते थे, यह मैं नहीं मानता। ये लोग वर्षों फ़िल्मों में रह कर अच्छे सम्वाद और सफल लोकप्रिय गीत लिखने के बाद ही फ़िल्मी दुनिया को 'नमस्कार' कह आये। दूसरों की बात नहीं जानता, मैं स्वयं दो साल फ़िल्मों में रहा हूँ। वहाँ जाने से पहले भी मैं इस माध्यम को अच्छी तरह समझता था। (कभी कॉलेज के ज़माने में वहाँ जाने की इच्छा भी थी, छद्म नाम से लगातार फ़िल्मी पत्रिकाओं में लिखता था और फ़िल्मी कहानी और सिनारियो पर मैंने काफ़ी साहित्य पढ़ा भी था) आज तो और भी ज़्यादा समझता हूँ। दुनिया जहान के फ़िल्मी स्क्रिप्ट देखे हैं। लेकिन मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि आज मुझे कोई एक लाख रुपया पेशगी दे और अच्छी नौकरी ऑफ़र करे और कहे कि ज़िन्दगी के बाकी तमाम साल उस माध्यम के लिए दे दूँ तो मैं इनकार कर दूँगा।

वि० : इसका कारण क्या वहाँ का वातावरण है या उस माध्यम की कठिनाई?

अ० : वातावरण – हाँ। कठिनाई – नहीं। मैं यह बात पहले समझा कर बता चुका हूँ। मेरे जैसा लेखक सम्वाद लिखेगा, या कहानी या गीत – और मैं बता चुका हूँ कि वह सब बायें हाथ का काम है। मुझे तो सिनारियो, निर्देशन या अभिनय भी कठिन नहीं लगता (मैंने दो-दो फ़िल्मों में किया भी।) लेकिन वातावरण, जिसके बारे में विस्तार से मैं लिख चुका हूँ, मेरे जैसे हस्सास आदमी के लिए या किसी भी हस्सास आदमी के लिए (जो वहाँ रहने के लिए मजबूर नहीं है) असहनीय है।....लेकिन एकमात्र यही कारण नहीं, दूसरे कारण भी हैं।

वि० : मसलन?

अ० : मसलन मैं फ़िल्मों को साहित्य के मुकाबिले में बहुत अस्थायी चीज़ मानता हूँ। फ़िल्म कितनी भी अच्छी क्यों न हो, कुछ वक्त के लिए उसका शोर मचता है। फिर वह किसी अभिलेखागार में सुरक्षित रख दी जाती है। जाने कितनी शानदार और लोकप्रिय फ़िल्में पिछले पचास वर्षों में नहीं आयीं, लेकिन आज उन्हें कोई भी नहीं जानता, इसके विपरीत कालिदास का 'शकुन्तला,' तॉलस्तॉय का 'वॉर एण्ड पीस' और दॉस्तोयेव्स्की के उपन्यास आज भी पढ़े जाते हैं और रस देते हैं।....लेकिन दो-चार नाम गिनाने से क्या हासिल है? संसार भर के प्रसिद्ध नाटक और उपन्यास एक ही शेल्फ़ में मौजूद रहते हैं, हम जब चाहें पढ़ लें। फ़िल्म के साथ ऐसा नहीं। अब जिस साहित्यकार ने उपन्यास या नाटक या काव्य के माध्यम को साध लिया हो, वह उस स्थायी चीज़ को छोड़ कर क्यों उस अस्थायी चीज़ के पीछे भागेगा? हाँ, जिसे पैसा या अस्थायी ख्याति सन्तुष्ट कर सकती है, वह जा सकता है, लेकिन....

वि० : लेकिन फ़िल्म बहुत लोगों तक बहुत कम अर्से में पहुँचती है। 'वॉर एण्ड पीस' को पढ़ने के लिए आपको कम-से-कम पन्द्रह दिन चाहिएँ, मगर उसकी फ़िल्म चार घण्टे में आपको सब कुछ दिखा सकती है।

अ० : पहले तो मैं इससे सहमत नहीं। उस महान उपन्यास में जितने महत्वपूर्ण और बारीक प्रसंग हैं, वे किसी फ़िल्म में नहीं समा सकते। अभी समाचार पत्रों में पढ़ा था कि कोई रूसी निर्देशक पूरे 'वॉर एण्ड पीस' पर फ़िल्म बना

रहा है और जब वह बन जायेगी, रोज सात दिन तक (या दस दिन तक, मैं भूल गया हूँ) चलती रहेगी। लेकिन मैं नहीं समझता कि वह इतने पर भी उस उपन्यास से पूरा इंसाफ़ कर सकेगी। और अपने घर में कुर्सी पर बैठे या बिस्तर में लेटे उपन्यास पढ़ने से जो आनन्द आता है, वह फ़िल्म देखने में कब आ सकता है? क्योंकि कोई प्रसंग समझ न आये तो आदमी दोबारा पढ़ता है। अच्छी रचनाएँ हमेशा बार-बार पढ़ी जाती हैं। फ़िल्म को पलट कर नहीं देखा जा सकता। (आज तो ऐसा ही है, कल विज्ञान उन्नति कर ले और फ़िल्म को अपनी मर्जी के अनुसार अपने कमरे में बैठ कर न सिर्फ़ देखा जा सके, वरना पलटा भी जा सके, तब बात दूसरी है।)

फिर भाई, मैं पिछले पैंतिस-सैंतिस वर्षों से एक उपन्यास लिख रहा हूँ। इस वक्त तक चार खण्ड उसके लिखे जा चुके हैं। अभी मुझे उसका अन्तिम खण्ड लिखना है। मुझे सात-आठ वर्ष उसके लिए चाहिएँ। मेरे पास समय नहीं है। कभी मुझे फ़िल्म के सिलसिले में बुलावा आये, मैं चला जाऊँ, यदि निर्देशक मनोनुकूल हो तो जितना कुछ मैं जानता हूँ, मुझे पूरा विश्वास है कि मैं बहुत अच्छी फ़िल्म बना दूँगा, लेकिन मैं समझता हूँ कि उस अस्थायी सुख के लिए मैं बहुत बड़ी कीमत चुकाऊँगा। इसमें अहं की बात नहीं। मैं नहीं समझता मुझे जाना चाहिए।....लेकिन यह भी ठीक है कि सत्यजित राय या श्याम बेनगल जैसा कोई निर्देशक हो, वह मेरी कोई रचना चाहे तो मैं शायद वैसे ही दे दूँ और कुछ समय के लिए ज़रूरत हो तो मदद भी कर दूँ।....लेकिन मेरा वैसा कोई भक्त अभी हिन्दी फ़िल्मों में पैदा नहीं हुआ....ये सारे डर, भय, शंकाएँ और परिस्थितियाँ हैं – इनको आप एक शब्द अहं या आत्म-रति का नाम नहीं दे सकते।

वि० : असल में आप जिस प्रश्न के उत्तर में इतना सब कह गये हैं, वह कुछ भिन्न था। मेरा कहने का यह मतलब था कि एक अच्छे लेखक की अच्छी कृति को फ़िल्माने के लिए चुना गया। वह अच्छा लेखक अच्छा साहित्यकार हो सकता है। ज़रूरी नहीं कि वह अच्छा फ़िल्मकार भी हो और फ़िल्म के माध्यम की बारीकियों को, सम्वेदनाओं को, पूरी तरह समझता हो। क्या ज़रूरी है कि वह अपने नाम की दुन्दुभी बजाने के लिए उसका सिनारियो भी लिखे, उसके गीत भी लिखे और उसके सम्वाद भी लिखने की चेष्टा करे? या क्या यह ज़रूरी है कि वह अपनी ही पीढ़ी के किसी दूसरे साहित्यकार से यह काम कराये, जिससे कि दो साहित्यकार नामों को उछाला जा सके? मेरा कहना यह था कि यह हिन्दी लेखकों की आत्म-रति ही है, जो प्रयोगशील हिन्दी सिनेमा को विफल बनाने में अपनी भूमिका निभा रही है।

अ० : यदि नये लेखक इस आत्म-रति का शिकार हैं (मेरा ख़याल है, तुम्हारा संकेत बासु भट्टाचार्य और राकेश के झगड़े से है) तो निश्चय ही वे ग़लत हैं। मैं स्वयं इस बात की ओर पहले संकेत कर चुका हूँ और तुम्हारी बात से सहमत हूँ। कोई निर्देशक किसी साहित्यिक कृति को फ़िल्माने के लिए चुने, यह ठीक है, लेकिन उसके आगे की प्रक्रिया उन्हीं लोगों के हाथों सम्पन्न होनी चाहिए, जो उस माध्यम को ठीक-ठीक और गहराई से समझते हैं। विशेषज्ञों को ही सिनारियो और सम्वाद भी लिखने चाहिएँ। लेखक केवल यह कर सकता है कि अन्तिम स्क्रिप्ट देख ले और सन्तोष कर ले कि किसी स्तर पर उसकी कृति के साथ अत्याचार तो नहीं हुआ। इतना सहयोग निर्देशक को लेखक से लेना चाहिए और इसके बिना लेखक को महज पैसे की ख़ातिर अपनी कृति फ़िल्म के लिए नहीं देनी चाहिए। 'गाइड' के साथ यही हुआ। निर्देशक और नायक के स्वेच्छाचार के कारण कृति को हानि पहुँची है और आर० के० नारायण ने इसकी शिकायत की है।....फिर हिन्दी फ़िल्मों की इस परम्परा को तुम क्या कहोगे, जहाँ कथाकार, सम्वाद-लेखक और निर्देशक एक ही व्यक्ति है? कितनी फ़िल्में निर्देशकों की इस हठधर्मी का शिकार नहीं हुईं?

वि० : मानता हूँ।

अ० : और जहाँ फ़िल्मी नायक अपनी मर्जी के मुताबिक निर्देशक और सम्वाद-लेखक को सम्वाद बदलने के लिए मजबूर करता है। दिलीप कुमार की यह आम आदत है। पृथ्वीराज कपूर तो यह करते ही थे। राजकपूर नहीं करते होंगे, मैं मान नहीं सकता – उसकी फ़िल्मों में बहुत कुछ ऐसा होता है, जो उनकी आत्म-रति के कारण होता है।....लेखक की कोई कृति जब प्रसिद्ध हो जाती है तो उसूलन लेखक तक को उसे बदलने का अधिकार नहीं रहता (याने कुछ समीक्षक ऐसा मानते हैं कि लेखक को ऐसा नहीं करना चाहिए) फिर निर्देशक और नायक की बात तो दूर रही। यदि किसी फ़िल्मकार ने किसी प्रसिद्ध साहित्यिक कृति के मर्म को उजागर नहीं किया तो मैं उसका सारा प्रयास विफल मानता हूँ।

वि० : बस एक आखिरी सवाल – इन सारी दिक्कतों और फ़िल्म के माध्यम की इन सारी सीमाओं के बावजूद, अगर आज आपको कोई ऐसी सम्भावना नज़र आये कि आप अपनी साहित्यिक कृतियों में, जो-जो कुछ भी रूपायित करना चाहते हैं, उसकी सुविधा फ़िल्म का माध्यम और उसका नियमन करने वाले व्यक्ति आज या कल या परसों जुटा सकें या जुटाने के लिए

प्रस्तुत हों तो क्या आप आज भी फ़िल्म के क्षेत्र में जाने और उसे अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने को तैयार होंगे ?

अ० : मैं इस सन्दर्भ में पहले भी अपने मन की बात कह चुका हूँ। यूँ तुम्हारा प्रश्न नितान्त हाइपोथेटिकल है। हो सकता है कि मैं कोई ऐसी फ़िल्म देखूं, जो मुझे बहुत ही अच्छी लगे, उसके निर्देशक की कला-मर्मज्ञता और शक्तिमत्ता का मुझे विश्वास हो जाय, वह मेरी रचनाएँ न केवल पढ़े हुए हो, वरन उनमें उसकी आस्था भी हो और वह ससम्मान मुझे बुलाये तो मैं अपना उपन्यास बीच ही में छोड़ कर कुछ अर्से के लिए उसके साथ हो लूं। इस सम्भावना से मैं इनकार नहीं करता। लेकिन जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, हमेशा के लिए मैं फ़िल्मी क्षेत्र में नहीं जा सकता। मैं अपने जीवन के अगले दस वर्षों का कार्यक्रम बना चुका हूँ, उससे अधिक जीने की मुझे आशा नहीं। इसलिए मेरे पास अधिक समय नहीं – हो सकता है, कोई वैसा निर्देशक मेरी कृति फ़िल्माने को ले ले, मैं उसका मर्म उसे समझा दूं, उसके महत्वपूर्ण प्रसंग रेखांकित कर दूँ, उसका सिने-नाटक और अन्तिम स्क्रिप्ट देख लूं, सम्वाद देख लूं, रशेज़ देख लूं और राय दे दूं। इससे ज़्यादा उलझना मैं नहीं चाहूँगा....हाँ कभी जवानी में गया होता तो वहीं रह जाता, लेकिन तब मैं शायद लेखक न बनता।

वि० : आपने अभी एक बात कही कि आप निर्देशक की फ़िल्म को देखें और वह आपको पसन्द आये और वह निर्देशक आपकी रचनाओं में आस्था रखता हो, आप का भक्त हो और वह आप से कहे....आदि....आदि....मैं समझता हूँ कि यहाँ आपका लेखकीय अहं फिर आड़े आ रहा है। क्या यह सम्भव नहीं कि आप किसी फ़िल्मकार की रचना को देखें, वह आपको इतनी पसन्द आये कि आप यह महसूस करें कि इस निर्देशक में अतुल प्रतिभा है और आपके पास अच्छी कहानियाँ हैं और उन पर फ़िल्में बननी चाहिएँ और वह निर्देशक बनाये तो कितना अच्छा हो ? क्या आप उस दिशा में पहल नहीं करना चाहिए ?

अ० : नहीं भाई, आज से चालिस वर्ष पहले यह सम्भव था। आज नहीं। 'ग़ालिब' का वो शे'र है –

बन्दगी में भी वो आज़ाद – ओ ख़ुदबीं हैं कि हम
उलटे फिर आये दरे-काबः अगर वा न हुआ

वैसी ही कैफ़ियत है। इसी कारण कुछ वर्ष पहले अलकाजी से झगड़ा हो गया। बिना मान-सम्मान के तो ख़ुदा के दर से भी वापस आ जायेंगे,

फ़िल्मकार के दर की क्या बात है ! इसी अहं के बल पर तो लेखक-लेखक है, वरना दूसरों में और उसमें क्या अन्तर है ?

वि० : मुझे अफ़सोस है कि आप मुझे ग़लत समझे। मैं यह बात कह कर लेखक के मूलभूत आत्म-सम्मान को ठेस नहीं पहुँचाना चाहता। मेरा आशय तो केवल इतना है कि लेखक को जैसे अपनी कला का, अपने माध्यम का, अपने कृतित्व का मान होता है, वैसे ही उसे यह भी सोचना चाहिए कि दूसरे माध्यम के कृतिकार को भी अपने कृतित्व का मान हो सकता है। वह भी यह सोच सकता है कि मैं अच्छा निर्देशक हूँ तो लेखक ही क्यों नहीं आ कर मुझसे मिल लेता। अतएव दोनों को एक-दूसरे की ओर बढ़ कर आधे रास्ते मिलना क्या श्रेयस्कर और समीचीन न होगा।

अ० : मैं दूसरे माध्यमों के कृतिकारों के अहं की बात मानता हूँ और मैं अलकाज़ी और उनके स्कूल से पढ़े हुए अन्य निर्देशकों के अहं को व्यक्तिगत रूप से देख चुका हूँ और हानि भी उठा चुका हूँ। लेकिन पहली बात यह है कि मैं रंग-निर्देशक और फ़िल्म-निर्देशक के ऐसे अहं को ठीक नहीं मानता। लेखक के कृतित्व और फ़िल्म या रंग-निर्देशक के कृतित्व में अन्तर है। लेखक को जो कुछ सृजना होता है, खुद सृजना होता है। उसे किसी दूसरे की ज़रूरत नहीं होती ; जब कि अच्छे निर्देशक को बढ़िया नाटक और अच्छे फ़िल्मकार को बढ़िया कहानी की ज़रूरत होती है; इसलिए यदि उसे किसी लेखक की कृति अच्छी लगी है तो उसे ही पहल करनी चाहिए....लेकिन तर्क के बल पर अथवा सिद्धान्ततः यह बात कितनी भी सही हो, वास्तविक जीवन में ऐसा होता नहीं और निर्देशक के अहं की ही बात ठीक है, बिल्कुल उसी तरह जैसे आलोचक के अहं की। निर्देशक अपने अहं के सन्तोष के लिए चाहे कमज़ोर कृति ले कर और आलोचक दोयम दर्जे की कृति को आसमान पर चढ़ा कर अपनी ही हानि कर ले, (ऐसा प्रायः होता है, मैं इससे इनकार नहीं करता) लेकिन अच्छा निर्देशक बढ़िया कहानी चुनेगा और उत्कृष्ट आलोचक बढ़िया रचना की तारीफ़ करेगा। फिर जिन लेखकों को फ़िल्म में जाना होगा, वे अच्छे डायरेक्टरों के अहं की रक्षा भी करेंगे। बासु चटर्जी को यदि यादव और मन्नू आधे रास्ते मिले हैं तो फल अच्छा ही हुआ है। मैं जवान होता तो ज़रूर किसी फ़िल्म निर्देशक को घेरता, लेकिन अब मेरे पास अंग्रेज़ी के मुहावरे का सहारा लूं तो कहूँ तो 'जंगली बत्तखों के पीछे भागने का समय नहीं है।'....मुझे एक बार हार्वर्ड युनीवर्सिटी के एक प्रोफ़ेसर श्री फ़िशर ने पूछा – "क्या आप नहीं चाहते कि आपके जीवन-काल में आपकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति का अनुवाद अंग्रेज़ी में हो जाय ?"

मैंने कहा, "चाहता तो हूँ, लेकिन उसके लिए कुछ कर नहीं सकता। मेरे पास समय नहीं है। ....मैं सबसे पहले अपने उपन्यास को पूरा करना चाहता हूँ। पूरा लिखा जाय तो एक बार उस सारे-के-सारे का संशोधन करना चाहता हूँ। अभी मेरे उपन्यास का एक खण्ड बाकी है और मैं किसी इतर सरगर्मी में समय बर्बाद नहीं करना चाहता।"

फ़िल्म विधा में बहुत कुछ है। बड़ी सम्भावनाएँ हैं। मान-सम्मान, धन-समृद्धि, शोहरत और यश – सब कुछ है। लेकिन वो कवि ने कहा है ना – **'एके साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।'**

सो बन्दा परवर, सब कुछ नहीं सध सकता। साहित्य की हर विधा अपने आप में काफ़ी कठिन और जटिल है। और मैं तो एक में नहीं कई विधाओं में ज़ोर-आज़माई करता हूँ। उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता, संस्मरण – सब कुछ लिखता हूँ। अपने आप में यह भी ग़लत बात है। तिस पर मैं फ़िल्मकारों से परिचय प्राप्त करता फिरूँ, निर्देशकों से सम्पर्क स्थापित करूँ, उनकी पार्टियों में जाऊँ, उन्हें पार्टियाँ दूँ, उनसे पत्र-व्यवहार करूँ – इतना सारा वक्त और धैर्य मैं कहाँ से लाऊँ? ....मुझे अपने उपन्यासों को रजत-पट पर देखने का कोई शौक नहीं। मैं यह जानता हूँ कि अगर मेरी कृतियों में जान है तो निश्चय ही उन पर फ़िल्में बनेंगी, देशी और विदेशी भाषाओं में उनके अनुवाद भी होंगे। अब सब कुछ मेरी ज़िन्दगी में ही हो जाय, क्या यह ज़रूरी है? ज़रूरी यह है कि जो मैं लिखना चाहता हूँ, लिख जाऊँ। हालाँकि जितना मैं लिखना चाहता हूँ और मेरे दिमाग़ में जैसी योजनाएँ हैं, वे सब एक ज़िन्दगी में पूरी हो जायेंगी, यह सम्भव नहीं। हो भी जायें तो और नहीं बनेंगी, इसका कौन ठिकाना है? मेरे उस्ताद की एक रूबाई है :

जब तक मेरी हस्ती का है सामाँ बाकी
जब तक कि मेरे जिस्म में है जाँ बाकी
पूरे हों हज़ारों मेरे अरमाँ 'आज़र'
रह जायेंगे फिर भी मेरे अरमाँ बाकी

लेकिन एक उपन्यास तो लेखक की ज़िन्दगी में पूरा होना ही चाहिए, तीसरा खण्ड 'एक नन्हीं किन्दील' तो तुमने पढ़ा ही था, चौथा दो हिस्सों में 'बाँधो न नाव इस ठाँव' के नाम से इसी फ़रवरी में पूरा हुआ है। एक अब भी रह गया है, चौंसठ का हो गया हूँ, मैं किस निर्देशक के दर की ज़बींसाई कर सकता हूँ!

वि० : अश्क जी, धन्यवाद।

१ / ६ / ७४

पुनश्च –

श्रीराम विद्यार्थी की इस भेंट-वार्ता के बाद श्री कैलाश बुधवार ने बी. बी. सी. में लिये गये श्री राज कपूर के इण्टर्व्यू का टेप सुनाया। राज कपूर ने अलावा दूसरी बातों के, सुरुचिपूर्ण हिन्दी फ़िल्में न बनने के दो कारण दिये थे :

१ – कि हिन्दी की फ़िल्मी दुनिया में ऐसे कथाकारों का अभाव है, जो ये जानते हों कि फ़िल्मी कहानी की क्या ज़रूरतें हैं और वह कैसे लिखी जाती है।

२ – कि हिन्दी में 'डिस्क्रिमीनेटिंग दर्शक' नहीं हैं। यह शब्द उन्हीं का है। उनका मतलब यही था कि हिन्दी के दर्शकों में अच्छी-बुरी फ़िल्मों की तमीज़ नहीं है।

श्री कैलाश बुधवार ने इस सन्दर्भ में मेरा मत चाहा था।

मैं यह सुन कर हँसा था, क्योंकि राज कपूर जैसी कहानियाँ चाहते हैं (उनकी अधिकांश फ़िल्में इसका प्रमाण हैं) वह मैं जानता हूँ और वैसी कहानियों के लिए किसी साहित्यकार की ज़रूरत नहीं। मनोज कुमार को एक तरह की कहानियाँ पसन्द हैं, दिलीप कुमार को दूसरी तरह की, राज कपूर को तीसरी तरह की और सिप्पी को चौथी तरह की – लेकिन एक बात सब में समान होती है। उनमें कहानी नहीं होती, सिचुएशन्ज़ होती हैं, जिनमें प्रोड्यूसरों की सनकों, पसन्दों, गानों की धुनों और हास्य-प्रसंगों को फ़िट कर दिया जाता है। वैसी कहानियाँ साहित्यकारों द्वारा नहीं, फ़िल्मी कथाकारों द्वारा वहीं स्टूडियो में बैठ कर, प्रायः प्रोड्यूसरों से क्यू ले कर, तैयार की जाती हैं।

जहाँ तक हिन्दी दर्शकों के सुरुचि सम्पन्न न होने का सम्बन्ध है – उस बात से मैं सहमत हूँ और इस सिलसिले में मैं विस्तार से लिख चुका हूँ।

०

लन्दन में मैंने टी० वी० पर सत्यजित राय की कुछ फ़िल्में देखी थीं। भारत आ कर भी अन्य निर्देशकों की कुछ नयी फ़िल्में देखी हैं। मुझे इनमें श्याम बेनेगल की 'अंकुर' सर्वाधिक अच्छी लगी। यदि मैं कहूँ कि मुझे सत्यजित राय की तमाम फ़िल्मों से अच्छी लगी तो ग़लत नहीं होगा। शबाना आजमी का अभिनय तो बहुत अच्छा है ही, लेकिन उस लड़की के गूँगे पति (साधू मेहर) और पठान कारिन्दे (नसीरुद्दीन शाह) का अभिनय भी अविस्मरणीय है। ....लेकिन निर्देशन तथा फ़ोटोग्राफ़ी का मुझ पर प्रभाव ज्यादा पड़ा और लगा कि हाँ, ऐसे निर्देशक को अपनी कहानी दे कर साहित्यकार निश्चिन्त हो सकता है। यह भी कि यदि ऐसी सफल ऑफ़बीट फ़िल्में बनती रहीं तो वह दिन दूर नहीं, जब धीरे-धीरे दर्शकों की रुचि बदल जायगी।

२८. १. १९७६ — उपेन्द्रनाथ अश्क

सुलोचना के नगर में

* *

* "क्यों सरवर, फ़िल्म में कामयाब होने के लिए तुम्हें कौन-सा गुर सबसे अच्छा लगा ?"

सरवर ने — जो सदा नयी बात कहने में विश्वास रखता था — हँसते हुए कहा : "बस, फ़ोल्डिंग बेड बन जाओ।"

और उसी तरह हँसता हुआ वह चला गया। *

सुलोचना के नगर में

॥ १ ॥

"लीजिए, यह विरार ग्रा गया !" उसके सहयात्री ने बड़े इत्मीनान से खिड़की के साथ पीठ लगाये, ग्रपनी सीट पर लेटे-लेटे कहा।

विरार ग्रा गया, यह सुनते ही हबीब उचक कर उठा। ट्रंक उसने नीचे की बर्थ से निकाला ग्रौर बँधा हुग्रा बिस्तर उस पर रख दिया। ग्रटैची-केस खोल कर ग्राईने में फिर एक बार ग्रपना चेहरा देखा, बालों को सँवार कर कंघी-शीशा ग्रटैची-केस में रखा, उसे ग्रच्छी तरह बन्द कर बिस्तर पर टिका दिया ग्रौर पूरी तरह लैस हो कर खिड़की के पास बैठ गया।

लेकिन उसके सहयात्री को किसी तरह की जल्दी न थी। उसे लेने के लिए शायद स्टेशन पर दो-चार रिश्तेदार ग्रौर नौकर ग्रा रहे थे ग्रौर फिर कुली थे ग्रौर ग्राखिर बम्बई सेण्ट्रल पहुँच कर फ्रण्टियर मेल को ठहर ही जाना था। फिर ग्रातुरता कैसी ! उसका बिस्तर यथावत बिछा था, सामान भी बिखरा हुग्रा था ग्रौर वह बड़े इत्मीनान से ग्रपनी खिड़की के साथ ग्रधबैठा पूर्ववत सिगरेट के कश लगा रहा था। यह जान कर कि हबीब पहली बार बम्बई जा रहा है, उसने हबीब को भारत के इस दूसरे महानगर के बारे में बहुत-सी बातें बता दी थीं। मसलन, बम्बई में कौन-कौन-से दर्शनीय स्थान है — हैंगिंग गार्डन्स, मैरीन ड्राइव, ग्रपोलो बन्दर, कुफ़े परेड, ग्रजायब-घर, चिड़िया-घर, चौपाटी, जूहू, विक्टोरिया गार्डन्स, बोरीवली, जोगेश्वरी ग्रौर एलीफ़ैण्टा की गुफ़ाएँ, बसीन ग्रौर माहिम के किले, दादर ग्रौर वरसोवा के तट, ग्रादि, ग्रादि — कौन-से बड़े होटल

हैं, कौन-से सिनेमा-घर ग्रौर बड़े बाज़ार ! ग्रौर बदले में हबीब से वादा ले लिया था कि ग्रगर उसने फ़िल्म कम्पनी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया तो वह उसे न सिर्फ़ स्टूडियो दिखायेगा, बल्कि फ़िल्म की शूटिंग भी।

०

मंज़िल के निकट पहुँच कर फ्रण्टियर मेल जैसे ग्रौर भी तेज़ हो गयी थी। हबीब के दिमाग़ की ट्रेन भी उससे कम तेज़ नहीं थी। ग्रन्तर यही था कि वह ग्रागे जाने के बदले, पीछे की ग्रोर भागी जा रही थी ग्रौर कई बरस पहले का ग्रत्यन्त विपिन्न विद्यार्थी जीवन, सिनेमा का बेपनाह शौक, सरवर की संगति, शुरू जवानी का सिनेमाई इश्क, सोते-जागते के सपने ग्रौर कभी न पूरे होने वाले संकल्प — सब एक-एक करके उसके दिमाग़ में घूम रहे थे ग्रौर वह प्रकट बाहरी दृश्य देखता हुग्रा, उनमें लीन हो गया था।

०

...उन दिनों वह कॉलेज में नया-नया दाखिल हुग्रा था। कॉलेज घर से तीन मील दूर था। दो-एक विद्यार्थियों के पास मोटर साइकिलें ग्रौर ताँगे थे, साधारण विद्यार्थी साइकिलों पर जाते थे, लेकिन वह एक-डेढ़ घण्टा पहले तैयार हो कर, तीन मील पैदल चल कर कॉलेज पहुँचता था। ग्राधी छुट्टी में लड़के हलवाई की दुकान पर मिठाई ग्रौर लस्सी उड़ाते थे, लेकिन वह निकट ही की वाटिका के किसी एकान्त कोने में जाता ग्रौर पुस्तकों के बैग में रखी हुई रोटी ग्रौर सूखी तरकारी खा कर वाटिका के रहट से दो घूँट पानी पी लेता था।

उसके पिता एक साधारण क्लर्क थे। जब वे मरे तो ग्रपने पीछे हबीब के इलावा एक ग्रौर क्लर्क बेटा छोड़ गये। उसकी माँ ने ग्रपने कुछ गहने जैसे-तैसे निर्धनता की भट्टी की भेंट होने से बचा रखे थे ग्रौर उनको जहाँ-तहाँ गिरवी रख कर वह काम चलाती थी। उसकी ग्रौर ग्रपने क्लर्क भाई की सहायता से हबीब कॉलेज में दाखिल हो गया था। पुस्तकें भी वह सारी न खरीद पाया था ग्रौर उसे किसी ऐसे मित्र की तलाश थी, जिसके पास जा कर वह पुस्तकों की कमी पूरी कर सके।

इस खोज-ढूँढ ने उसका परिचय सरवर से कराया था।

सरवर के पिता यद्यपि किसी रियासत के दीवान थे, पर उन्होंने सरवर की माँ को छोड़ कर किसी दूसरी ग्रौरत को घर में बैठा रखा था। यह ठीक है कि वे घर का खर्च भेजते थे ग्रौर सरवर को किसी तरह का ग्रभाव न था, लेकिन हबीब ही की तरह वह भी ग्रपने को पिता विहीन समझता था ग्रौर इस ग्रनुभूति ने उसे हबीब के ग्रौर भी निकट कर दिया था।

जहाँ तक हबीब का सम्बन्ध है, वह मन-ही-मन सरवर का बहुत ग्रादर करता था। इस ग्रादर की भावना में हल्के-से डर ग्रौर ईर्ष्या का भी सम्मिश्रण

सुलोचना के नगर में || १ ||

"लीजिए, यह विरार ग्रा गया !" उसके सहयात्री ने बड़े इत्मीनान से खिड़की के साथ पीठ लगाये, अपनी सीट पर लेटे-लेटे कहा।

विरार ग्रा गया, यह सुनते ही हबीब उचक कर उठा। ट्रंक उसने नीचे की बर्थ से निकाला ग्रौर बँधा हुग्रा बिस्तर उस पर रख दिया। ग्रटैची-केस खोल कर ग्राईने में फिर एक बार अपना चेहरा देखा, बालों को सँवार कर कंघी-शीशा ग्रटैची-केस में रखा, उसे ग्रच्छी तरह बन्द कर बिस्तर पर टिका दिया ग्रौर पूरी तरह लैस हो कर खिड़की के पास बैठ गया।

लेकिन उसके सहयात्री को किसी तरह की जल्दी न थी। उसे लेने के लिए शायद स्टेशन पर दो-चार रिश्तेदार ग्रौर नौकर ग्रा रहे थे ग्रौर फिर कुली थे ग्रौर ग्राखिर बम्बई सेण्ट्रल पहुँच कर फ्रण्टियर मेल को ठहर ही जाना था। फिर ग्रातुरता कैसी ! उसका बिस्तर यथावत बिछा था, सामान भी बिखरा हुग्रा था ग्रौर वह बड़े इत्मीनान से ग्रपनी खिड़की के साथ ग्रधबैठा पूर्ववत सिगरेट के कश लगा रहा था। यह जान कर कि हबीब पहली बार बम्बई जा रहा है, उसने हबीब को भारत के इस दूसरे महानगर के बारे में बहुत-सी बातें बता दी थीं। मसलन, बम्बई में कौन-कौन-से दर्शनीय स्थान हैं — हैंगिंग गार्डन्स, मैरीन ड्राइव, ग्रपोलो बन्दर, क़ुफ़े परेड, ग्रजायब-घर, चिड़िया-घर, चौपाटी, जूहू, विक्टोरिया गार्डन्स, बोरीवली, जोगेश्वरी ग्रौर एलीफ़ैण्टा की गुफाएँ, बसीन ग्रौर माहिम के किले, दादर ग्रौर वरसोवा के तट, ग्रादि, ग्रादि — कौन-से बड़े होटल

हैं, कौन-से सिनेमा-घर ग्रौर बड़े बाज़ार ! ग्रौर बदले में हबीब से वादा ले लिया था कि ग्रगर उसने फ़िल्म कम्पनी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया तो वह उसे न सिर्फ़ स्टूडियो दिखायेगा, बल्कि फ़िल्म की शूटिंग भी।

०

मंज़िल के निकट पहुँच कर फ्रण्टियर मेल जैसे ग्रौर भी तेज हो गयी थी। हबीब के दिमाग़ की ट्रेन भी उससे कम तेज़ नहीं थी। ग्रन्तर यही था कि वह ग्रागे जाने के बदले, पीछे की ग्रोर भागी जा रही थी ग्रौर कई बरस पहले का ग्रत्यन्त विपिन्न विद्यार्थी जीवन, सिनेमा का बेपनाह शौक, सरवर की संगति, शुरू जवानी का सिनेमाई इश्क, सोते-जागते के सपने ग्रौर कभी न पूरे होने वाले संकल्प — सब एक-एक करके उसके दिमाग़ में घूम रहे थे ग्रौर वह प्रकट बाहरी दृश्य देखता हुग्रा, उनमें लीन हो गया था।

०

....उन दिनों वह कॉलेज में नया-नया दाखिल हुग्रा था। कॉलेज घर से तीन मील दूर था। दो-एक विद्यार्थियों के पास मोटर साइकिलें ग्रौर ताँगे थे, साधारण विद्यार्थी साइकिलों पर जाते थे, लेकिन वह एक-डेढ़ घण्टा पहले तैयार हो कर, तीन मील पैदल चल कर कॉलेज पहुँचता था। ग्राधी छुट्टी में लड़के हलवाई की दुकान पर मिठाई ग्रौर लस्सी उड़ाते थे, लेकिन वह निकट ही की वाटिका के किसी एकान्त कोने में जाता ग्रौर पुस्तकों के बैग में रखी हुई रोटी ग्रौर सूखी तरकारी खा कर वाटिका के रहट से दो घूंट पानी पी लेता था।

उसके पिता एक साधारण क्लर्क थे। जब वे मरे तो ग्रपने पीछे हबीब के इलावा एक ग्रौर क्लर्क बेटा छोड़ गये। उसकी माँ ने ग्रपने कुछ गहने जैसे-तैसे निर्धनता की भट्टी की भेंट होने से बचा रखे थे ग्रौर उनको जहाँ-तहाँ गिरवी रख कर वह काम चलाती थी। उसकी ग्रौर ग्रपने क्लर्क भाई की सहायता से हबीब कॉलेज में दाखिल हो गया था। पुस्तकें भी वह सारी न खरीद पाया था ग्रौर उसे किसी ऐसे मित्र की तलाश थी, जिसके पास जा कर वह पुस्तकों की कमी पूरी कर सके।

इस खोज-ढूंढ ने उसका परिचय सरवर से कराया था।

सरवर के पिता यद्यपि किसी रियासत के दीवान थे, पर उन्होंने सरवर की माँ को छोड़ कर किसी दूसरी ग्रौरत को घर में बैठा रखा था। यह ठीक है कि वे घर का खर्च भेजते थे ग्रौर सरवर को किसी तरह का ग्रभाव न था, लेकिन हबीब ही की तरह वह भी ग्रपने को पिता विहीन समझता था ग्रौर इस ग्रनुभूति ने उसे हबीब के ग्रौर भी निकट कर दिया था।

जहाँ तक हबीब का सम्बन्ध है, वह मन-ही-मन सरवर का बहुत ग्रादर करता था। इस ग्रादर की भावना में हल्के-से डर ग्रौर ईर्ष्या का भी सम्मिश्रण

था – सरवर अत्यन्त मेधावी, वाक्पटु, सुन्दर, बौद्धिक, काव्य-प्रेमी नवयुवक था – कॉलेज के वाद-विवाद में वह सदा प्रथम रहता। मैगज़ीन में सबसे अच्छा लेख (कहानी या कविता लेख में शामिल है) लिखने पर सदा पुरस्कार पाता। बोलता तो अनथक बोले जाता और उसकी बातें सुन कर उकताहट नहीं, प्रसन्नता होती। वह इतना लोकप्रिय था कि हर कोई उसकी संगति पसन्द करता। इन गुणों के स्वामी के लिए हबीब के मन में सम्मान होना स्वाभाविक था (जबकि स्वयं उसमें न वैसा व्यक्तित्व था, न गुण) लेकिन सरवर बला का मुँहफट भी था। अपनी राय प्रायः इतनी स्पष्टता से व्यक्त करता कि दूसरे को ध्वस्त कर देता। और हबीब जहाँ मन-ही-मन में उससे ईर्ष्या करता, वहाँ उससे कुछ डरता भी था।

उस दौर के शायरों में हफ़ीज़ जालन्धरी और 'अख्तर' शेरानी सरवर के प्रिय शायर थे (हफ़ीज़ कम और शेरानी ज्यादा) हफ़ीज़ और शेरानी की कोई भी नज़्म कहीं छपती, सरवर काट कर रख लेता। उसका छोटा-सा कमरा (जहाँ फ़र्श पर जाजम बिछा रहता और गाव तकियों के सहारे गोष्ठी होती) पत्र-पत्रिकाओं, उनसे काटे गये अनगिनत तराशों, फ़ाइलों और किताबों से अटा रहता। नज़्मों को पढ़ने का ढंग भी उसका कुछ ऐसा मनमोहक था कि बार-बार सुनने पर भी मन न भरता। खुद हबीब को 'हफ़ीज़' और 'अख्तर' की कई नज़्में कण्ठस्थ हो गयी थीं – और वह स्वयं हफ़ीज़ की 'बसा ले अपने मन में प्रीत,' 'मन है पराये बस में,' और 'जाग सोज़-ए-इश्क जाग,' और 'अख्तर' की 'वही वादी है यह हमदम जहाँ रेहाना रहती थी,' 'देखो वह कोई जोगन जंगल में गा रही है,' 'मुझे तो इन्हीं बीमार कलियों से मुहब्बत है' और वह अमर कृति 'सलमा' एकान्त में गाया करता था (गाने के लिए उसका स्वर अनुपयुक्त था, लेकिन इसके बावजूद जब कोई न होता तो वह बड़े ऊँचे स्वर में झूम-झूम कर ये नज़्में गाता)। उन नज़्मों को बार-बार सुन और गा कर उसे स्वयं शायरी का शौक पैदा हो गया था और उसने 'अख्तर' शेरानी की तर्ज़ पर कई रूमानी नज़्में कह डाली थीं। उसकी रुँधी-रुकी इच्छाएँ-आकांक्षाएँ और अरमान, उसका दबा-छिपा व्यक्तित्व – सब उन नज़्मों में बह निकला था। जब उसने अपनी पहली नज़्म सरवर को सुनायी तो सहसा वह उससे लिपट गया था।

"अरे वाह! तुम तो पैदायशी शायर हो!" उसने हबीब को आलिंगनबद्ध करते हुए कहा था और दोनों की मित्रता और भी गहरी हो गयी थी।

सरवर ही से हबीब को पहले-पहल सिनेमा का शौक लगा। हबीब के पिता और उनके पद-चिन्हों पर चलने वाले बड़े भाई सिनेमा के घोर विरोधी थे। उन्हीं दिनों जब ईद के त्योहार पर हबीब ने अम्मा के सम्मुख सिनेमा देखने की इच्छा व्यक्त की थी तो उसके भाई बाज़ की तरह उस पर झपटे थे – "कॉलेज में दाखिल होते ही पर लग गये तुम्हें? घर में नहीं दाने और बन्नो चलीं भुनाने! मियाँ, चार अच्छर ही तुम्हारे भेजे में पड़ जायें तो ग़नीमत समझो और तुम लफ़ंगों के शौक पाल रहे हो? सिनेमा या तो आवारा देखते हैं, जिन्हें कोई काम नहीं या अमीरों के छोकरे, जिनके पास वाफ़र पैसा है और समझ नहीं आता कि इसे किस भले काम में लगायें। हमारे-तुम्हारे बस के ये शौक नहीं!"

हबीब की आँखें भर आयी थीं। अम्मा चाहती थीं कि अब हबीब ने कहा है तो एक बार देख आये, पर भाई साहब की बात काटना उनके बस से भी बाहर की बात थी।

हबीब मन मार कर रह गया था। चुपचाप किताब उठा कर वह चो (पहाड़ी नाले) पर चला गया था, जिसका पानी सरकार ने नहर की ओर खींच लिया था और जिसमें अब मीलों तक फैली हुई सूखी बालू के सिवा कुछ दिखायी न देता था। नंगे पाँव वह उसकी ठण्डी-ठण्डी रेत पर घूमता रहा था। उसका विस्तार और विपन्न वीरानी उसे अपने दिल के अरमानों-सी विस्तृत और वीरान लगती थी। इस उजड़े हुए पहाड़ी नाले और अपने दिल में उसे कुछ अनोखी आत्मीयता की अनुभूति हुई थी और उसकी ठण्डी सूखी बालू पर घूम कर उसे कुछ अजीब-सी शान्ति का एहसास हुआ था।

अपने भाई के इस विरोध के बावजूद सरवर की मित्रता ने उसके दिल में सिनेमा के लिए बेपनाह शौक पैदा कर दिया था और सरवर ही पहले-पहल उसे अपने खर्च पर सिनेमा दिखाता रहा था।

फ़िल्म के संसार पर उन दिनों सुलोचना और जुबैदा का राज था। फ़िल्म में रुचि रखने वाले या तो सुलोचना के दीवाने थे या जुबैदा के – वहीं फ्रण्टियर मेल की खिड़की में बैठे-बैठे हबीब की आँखों में दोनों की तस्वीरें घूम गयीं।

जुबैदा – वह पतले, छरहरे कद की, प्यारे-प्यारे गोल चेहरे और बड़ी-बड़ी आँखों वाली भारत की पहली टॉकी – 'आलम आरा' – की हीरोइन! उसका वह बायीं आँख की भौं उठा कर देखना हबीब को अब तक याद था। वह चितवन उसने पहले-पहल 'ज़रीना' में देखी थी और वह चितवन मानो उसके मन की गहराइयों में उतर कर वहीं की हो गयी थी। हालांकि 'ज़रीना' के आने पर शहर में कुहराम मच गया था और होशियारपुर की 'दोआबा सुधार सभा' ने (जिसमें अधिकतर वही स्थानीय पत्रकार सम्मिलित थे, जिन्हें या तो विज्ञापन न मिले थे या फ़िल्म के फ्री पास) यह फ़तवा दिया था कि फ़िल्म नितान्त साधारण और अश्लील है, लेकिन हबीब के मन पर 'ज़रीना' ने अमिट प्रभाव डाला था। जुबैदा उस फ़िल्म में अपने कमाल पर थी। उसका वह गाना, वह नाच, वह चितवन – कई दिन तक हबीब के सपने जुबैदा के सौन्दर्य से भरपूर रहे थे, लेकिन 'ज़रीना' के बाद जाने वह कहाँ अदृश्य हो गयी। उसने उड़ती-उड़ती खबर सुनी कि किसी

अमीर या नवाब ने इस अद्वितीय कलाकार को खरीद लिया है और वह अब उसकी पत्नी बन गयी है।

और सुलोचना – ज़ुबैदा से ज़रा-सा लम्बा कद, ज़ुबैदा की अपेक्षा कहे गदराया शरीर, और कद लम्बा और अंग सुडौल होने से उसका वह गदरायापन कहीं ज़्यादा आकर्षक और मनमोहक! चौड़ा माथा, तीखे नक्श, सुतवाँ नाक, आम की फाँक-ऐसी आँखें, सुराहीदार गर्दन और सितम ढाती हुई मुस्कराहट! ज़ुबैदा की चितवन और सुलोचना की मुस्कान – हबीब दोनों पर फ़िदा था।

सरवर ने जिस तरह हबीब के मन 'हफ़ीज़' और 'अख़्तर' की शायरी के लिए आकर्षण पैदा किया था, उसी तरह उसे ज़ुबैदा और सुलोचना का दीवाना बना दिया। पहले उसने हबीब को दोनों की तस्वीरों के कटिंग दिखाये, जो उसने पत्रिकाओं से काट कर एलबम में लगा रखे थे। उनमें एक-से-एक आकर्षक पोज़ था। फिर उनकी एक-एक भाव-भंगिमा की प्रशंसा की और आखिर एक दिन, जब शहर में सुलोचना की एक तस्वीर आयी तो उसने हबीब को फ़िल्म देखने के लिए आमन्त्रित कर लिया।

हालाँकि हबीब इस बीच बिन-देखे ही सुलोचना का दीवाना हो चुका था और उसकी इच्छा भी थी कि किसी-न-किसी तरह सुलोचना की पिक्चर देखने जाय, लेकिन उसके लिए चार आने तो दूर (उस ज़माने में सिनेमाघरों में कम-से-कम चार आने का टिकट होता था) चार पैसे भी जुटाना कठिन था। आखिर जब सरवर ने बहुत आग्रह किया तो हबीब ने अपनी कठिनाई उसके सम्मुख रखी। तब सरवर ने हँसते और हवा में अर्द्ध-वृत्त बनाते हुए कहा कि सुलोचना के प्रेमियों में एक और की वृद्धि करने के लिए वह चार आने तो क्या चार रुपये तक खर्च कर सकता है। और वह ज़बरदस्ती हबीब को पिक्चर दिखाने ले गया था।

साइलेण्ट (मौन) पिक्चर थी। गाड़ी के डिब्बे में बैठे-बैठे हबीब को उसका नाम याद न आ रहा था, लेकिन उसके पहले दृश्य उसके दिमाग़ पर अभी तक अंकित थे – एक जहाज़ बम्बई समुद्रतट के निकट आ रहा है और जहाज़ के डेक पर जंगले से कोहनी टिकाये डी० बिलीमोरिया खड़ा समुद्र के बदलते दृश्यों का आनन्द ले रहा है। समुद्र की लहरें जहाज़ से टकरा कर झाग बिखेर रही हैं। पक्षी जहाज़ के निकट चक्कर काट रहे हैं। हवा तेज़ चल रही है कि तभी एक काग़ज़ हवा के झोंके से उड़ कर उसके हाथ में आ जाता है। इसके साथ ही उसकी नज़रें उठ जाती हैं, डेक की दूसरी तरफ़ सुलोचना अपने पत्र का एक पृष्ठ उड़ जाने से परेशान खड़ी है – क्या कद है, कैसा साँचे में ढला नाक-नक्शा, उभरता हुआ यौवन, कितनी सुन्दर गर्दन, कितना मनमोहक सौन्दर्य! हबीब मुग्ध भाव से उसकी सुन्दरता देख रहा है कि डी० बिलीमोरिया पत्र ले कर सुलोचना के पास पहुँचता है, दोनों की आँखें चार होती हैं और नाटक शुरू हो जाता है।

हबीब उस दिन घर आया था तो पल भर को भी न सो सका था। तसवीर की सुलोचना और पर्दे की सुलोचना में इतना ही अन्तर था, जितना किसी मूर्ति और उसके असली रूप में। उसका हर भाव, हर मुस्कराहट, उसके सुन्दर तन की प्रत्येक भंगिमा अपने समस्त आकर्षण के साथ उसके सम्मुख घूमती रही थी। वह स्वयं उस नाटक का हीरो बन गया था और पूरी रात (स्टण्ट पिक्चर होने के कारण) सुलोचना के विरोधियों से लड़ता रहा था।

दूसरे दिन कॉलेज जाते समय अचानक एक पनवाड़ी की दुकान पर उसे सुलोचना की तसवीर चौखटे में लगी दिखायी दी थी – वही सुन्दर वक्ष, वही लम्बी सुराहीदार गर्दन, वही मनमोहनी मुस्कान! सम्भवतः 'इलस्ट्रेटिड वीकली' से सुलोचना का बस्ट काट कर उस पनवाड़ी ने शीशे में जड़वा लिया था।

जब हबीब शाम को कॉलेज से लौटा तो उसकी नज़रें आप-से-आप उस तसवीर की ओर उठ गयी थीं। उस दिन से उसका यह नित्य नियम हो गया कि जब वह उधर से निकलता, उस तसवीर को एक नज़र ज़रूर देख लेता। आखिर एक दिन जब उसके मामा उनके घर आये और जाते हुए उसे एक रुपया दे गये तो अम्मा को रुपया देने के बदले वह उस पनवाड़ी से एक रुपये में वह तसवीर खरीद लाया था। दुर्भाग्य से ड्योढ़ी ही में भाई से मुठभेड़ हो गयी। उसके हाथ से तसवीर छीन कर वे वापस आँगन में आये, जहाँ अम्मा बैठी खाना पका रही थी। उसे वह तसवीर दिखाते हुए उन्होंने हबीब को उसकी नालायकी पर डाँटना शुरू किया कि कमाना पड़े तो रुपये की कद्र हो। इस रण्डी की तसवीर पर (भाई साहब के खयाल में फ़िल्म में काम करने वाली हर औरत वेश्या थी) एक रुपया खर्च करने के अलावा उसे पैसे का और कोई उपयोग नहीं सूझा। एक रुपये में हफ़्ते भर तक घर में सब्ज़ी-तरकारी आ सकती थी; उसकी अपनी कोई पुस्तक या उसकी कोई कुंजी आ सकती थी; ईद का त्योहार अच्छी तरह मनाया जा सकता था; दूसरे दस काम हो सकते थे।...उन्होंने उसे इतना डाँटा कि उसकी आँखों में आँसू भर आये। सम्भव था कि उस भाषण की समाप्ति पर (जिसके दौरान भयानक गुस्से के कारण उनके मुँह से फिचकू निकलने लगा था) वे तसवीर को फ़र्श पर पटक देते, लेकिन तभी अम्मा ने चुपचाप उठ कर तसवीर उनके हाथ से ले कर हबीब को देते और बड़े धैर्य से उसे समझाते हुए कहा कि बेटा, तेरे भाई तेरे ही फ़ायदे की बात कहते हैं, चार साल की बात है, इधर-उधर फ़िज़ूल वक्त खराब करने के बजाय जी लगा कर पढ़ ले, अपने पाँवों पर खड़ा हो जा, फिर चाहे जो करना।

हबीब उस तसवीर को अपनी नीम-अँधेरी कोठरी में ले आया था। उसे लगा था, जैसे उस तसवीर से वह कोठरी जगमगा उठी है। अपने भाई की डाँट और माँ की सीख उसे बहुत बुरी लगी थी। वह पढ़ने में बहुत अच्छा था। उस

वक्त, जब उसके पास अपनी एक भी पुस्तक न थी, वह परीक्षा में अच्छे नम्बरों पर पास हो जाता था, फिर उनकी डाँट निरर्थक नहीं थी तो और क्या थी।

तसवीर को अपनी कोठरी की दीवार पर लगा कर वह चो पर चला गया था और अपनी खिन्नता और परेशानी को उसने उस नाले को ठण्डी-ठण्डी बालू, उसके वीरान विस्तार और वहाँ सजग हो जाने वाले सुनहरे सिनेमाई सपनों में भुला दिया था।

उस दिन से हबीब के मन में बम्बई जाने और सिनेमा की दुनिया में नाम पाने (सुलोचना और जुबैदा से परिचित होने और बस चले तो उनसे प्रेम करने) की प्रबल इच्छा जग गयी थी, लेकिन बम्बई का थर्ड क्लास का किराया भी बीस रुपये था और उसकी आकांक्षाओं का तूफ़ान उस चट्टान से टकरा कर बिखर जाता। कई बार उसने सोचा था कि फ़ीस के रुपये ले कर बम्बई भाग जाय। एक बार बम्बई पहुँच जाय, फिर उसे सफल अभिनेता या निर्देशक बनने से कोई नहीं रोक सकता। कई बार सोते और जगते के सपनों में वह किसी हीरोइन (विशेषकर सुलोचना और जुबैदा) का रसोइया बन कर हीरो बना था और किसी कम्पनी के अस्तबल में नौकर हो कर डायरेक्टर! (उसने सरवर से कई ऐसे किस्से सुने थे जब हीरो और ऐक्टर साधारण नौकरों, चौकीदारों और बल्लम-बरदारों से उन्नति कर गये थे।) यदि उसके मन में भाई के लिए आदर-सम्मान न होता (जो अपने बच्चों का पेट काट कर उसे पढ़ा रहा था) या अम्मा के आँसुओं का भय न होता (जिसके बारे में उसे विश्वास था कि अगर उसने कोई ऐसा कदम उठाया तो रो-रो कर जान दे देगी) तो वह फ़ीस के रुपये ले कर भाग गया होता। जब उसके मन में बम्बई जाने की इच्छा प्रबल होती तो वह अपने आपको समझाता कि मियाँ, बी० ए० कर लो, फिर तुम आज़ाद हो जाओगे, अपने पाँवों पर खड़े हो जाओगे और जो चाहे करोगे। जहाँ मन होगा, जा सकोगे। और इस तरह वह अपने मन को बम्बई के सपनों में उलझा देता।

०

और आज वह सोलह बरस बाद इस बम्बई की गाड़ी में (थर्ड में नहीं, सेकेण्ड के डिब्बे में, खुर्री सीट के बदले गद्दे पर बैठा) उड़ा जा रहा था। उसे किसी हीरोइन का रसोइया या किसी कम्पनी का साईस न बनना पड़ा था। उसे फ़िल्म कम्पनी ने (उसके मित्र सरवर के द्वारा) सेकेण्ड क्लास का किराया दे कर बुलाया था कि वह आये और अपनी ईश्वर-प्रदत्त कला से फ़िल्म की मुर्दा कहानियों और बेजान गीतों में प्राण फूंके।

लेकिन बम्बई अब जुबैदा और सुलोचना की बम्बई न थी। न जाने कैसी-कैसी मोटी, भद्दी या सूखी-सड़ी हीरोइनें रजत-पट की शोभा बढ़ा रही थीं। पिछले दिनों ही उसने एक फ़िल्म देखी थी, जिसकी हीरोइन हालांकि नवयुवती

थी, पर उसकी नाक इतनी मोटी और भद्दी थी कि जब भी वह पर्दे पर आती, उसे बड़ा कष्ट होता। एक अन्य फ़िल्मी नायिका की बाँहें इतनी मोटी थीं कि उसके सहयात्री के कथनानुसार घाटन लगती थी। एक तीसरी थी, जिसके क्लोज़-अप में पाउडर की कई परतों के बावजूद होंटों और गालों के बाल साफ़ दिखायी देते थे। वह तराशा हुआ, अंगों को उभारता, हुआ साँचे में ढला हुआ सन्तुलित सौन्दर्य अब कहाँ! मन की गहनतम गहराइयों के किसी गुह्य कोने में टटोलने पर भी उसे कोई ऐसी तस्वीर न मिलती थी, जो वहाँ उतर कर वहीं की हो गयी हो, या जिसने सुलोचना और जुबैदा के नाक-नक्शे को (जो अब बिलकुल धुंधले हो गये थे) यकसर मिटा दिया हो।

लेकिन उसका मन ही क्या अब वह पहले जैसा मन था, जिसमें सिनेमा का शौक उन्माद की हद पर पहुँचा हुआ था — उसने सोचा। हो सकता है, ये फ़िल्मी नायिकाएँ भी आज के नौजवान विद्यार्थियों के मन में वैसा ही तूफ़ान मचाती हों, जैसा सुलोचना और जुबैदा उसके दिल में मचाया करती थीं। मन-ही-मन वह नयी पौध के दुर्भाग्य पर मुस्कराया (जिनके भाग्य में ये भद्दी-भोंडी हीरोइनें लिखी थीं।) जहाँ तक उसका सम्बन्ध था, उसके मन के पर्दे पर अभी तक जुबैदा और सुलोचना के चित्र अंकित थे। यह और बात है कि उसका जुनून अब वह जुनून न रहा था। उसने अब दूसरा रास्ता अपना लिया था — मशहूर अभिनेता या निर्देशक होने के बदले, वह प्रसिद्ध कवि और नाटककार हो गया था और ज़िन्दगी के रोमान की बजाय उसका कलम यथार्थ का चित्रण करना सीख गया था।

वह शायद फ़िल्म कम्पनी का यह प्रस्ताव स्वीकार भी न करता, लेकिन बात यह थी कि पैसे के मामले में सोलह बरस पहले के हबीब और अब के हबीब में कोई विशेष अन्तर न था और उसने सोचा था कि जब फ़िल्म कम्पनी आने-जाने का किराया दे रही है तो क्यों न फोकट में बम्बई की सैर कर ली जाय। वहाँ का जीवन पसन्द न आया तो वापस आ जायेंगे। फिर उसके मित्रों ने उसे यकीन दिलाया था कि इस समय, जब देश के चोटी के लेखक और कवि इस इण्डस्ट्री में सम्मिलित हो रहे हैं, उसे भी फ़िल्म के सुधार में उनका हाथ बटाना चाहिए; अच्छे लेखक और कवि फ़िल्मों में न जायेंगे तो अच्छी फ़िल्में कैसे बनेंगी? इसके अतिरिक्त उसे सरवर का भी खयाल था जो खुद अब बड़ा लेखक था और जिसके लिए अब भी उसके मन में थोड़ा-सा भय और सम्मान था।

और यह सब सोच कर वह बम्बई चला आया था।

"यह रहा बसीन का ऐतिहासिक किला, जो पुर्तगालियों ने बनाया था।" उसके सहयात्री ने पूर्ववत बड़ी शान्ति से अधबैठे-अधलेटे सिगरेट के कश खींचते-खींचते खिड़की के बाहर संकेत करते हुए कहा।

हबीब की विचार-शृंखला टूट गयी। वह उठ कर उस खिड़की में गया। तेज़ी से जाती हुई फ्रण्टियर मेल से पूरा किला तो उसे क्या दिखायी देता, उसके परकोटे के एक टुकड़े की झलक ही उसे मिली, लेकिन किले के परकोटे से ज़्यादा उसका ध्यान समुद्र के उस टुकड़े ने खींच लिया, जो सामने किले के परकोटे के निकट से बहता हुआ गाड़ी की ओर आ रहा था। कुछ नावें परकोटे की छाया में उसके किनारे से लगी हुई थीं। दूसरे किनारे पर एक बड़ी-सी नाव औंधी पड़ी नज़र आती थी और दो मछुवे एक छोटी-सी नाव में मछली पकड़ रहे थे।

तभी गाड़ी की आवाज़ पुल के कारण गड़गड़ाहट में बदल गयी। कुछ पल के लिए हबीब के कान उस आवाज़ को सुनने में और उसकी आँखें नदी-से चौड़े समुद्र के उस टुकड़े को देखने में तल्लीन हो गयीं। हालाँकि समुद्र का वह टुकड़ा नदी जितना ही चौड़ा था, लेकिन नदी और उसमें सिर्फ़ यह फ़र्क था कि नदी का-सा बहाव इसमें न था। पानी रुका हुआ, ठहरा हुआ, किसी सन्तुष्ट मोटे सेठ की तरह इत्मीनान से पसरा हुआ दिखायी देता था। उन चन्द पलों में हबीब इससे ज़्यादा कुछ न देख सका। तभी गाड़ी दूसरे किनारे पर पहुँच गयी और वहाँ से छोटे सफ़ेद-सफ़ेद खेत शुरू हो गये।

"यह क्या है?" उसने अपने सहयात्री से पूछा।

"नमक के खेत!"

हबीब ने मुड़ कर अपनी खिड़की में नज़र दौड़ायी। इस तरफ़ भी नमक के छोटे-छोटे खेत गाड़ी के साथ उड़े चले जा रहे थे। वापस आ कर वह अपनी जगह पर बैठ गया और उन खेतों को देखने लगा।

उसे याद आया कि उसने छठी क्लास में पढ़ा था कि नमक खानों से भी निकलता है और समुद्र के पानी से भी बनाया जाता है। यह याद आते ही उसकी उत्सुकता और भी बढ़ गयी। उसने देखा — छोटी-छोटी नालियाँ समुद्र के खारे पानी को ला कर खेतों में डाल रही हैं। कहीं-कहीं खेत पानी से भरे हुए हैं। पानी सूख चला है और सफ़ेद-सफ़ेद नमक दिखायी दे रहा है। कहीं-कहीं खेतों के किनारे नमक के ढेर लगे हुए हैं। कुछ सफ़ेद, कुछ मटियाले — शायद मटियाले ढेरों में नीचे की तह का नमक था और उनमें मिट्टी का असर ज़्यादा था। बम्बई में निम्न वर्ग के लोग इसी सस्ते मिट्टी-मिले नमक पर बसर करते होंगे — उसने सोचा — और खुदा का हज़ार-हज़ार शुक्र करते होंगे कि उसने मिट्टी में भी कुछ नमक रहने दिया।

यह खयाल आते ही उसके होंटों पर व्यंग्य-भरी मुस्कान फैल गयी और उसकी आँखों के सामने उसकी अम्मा का चित्र घूम गया, जिसे खुदा पर अटल यकीन था, जो उसे रब्बुल-आलमीन (सारे आलम का खुदा) समझती थी और कहती थी कि उसे अपने हर बन्दे का खयाल है। जब वह सुनेगी कि उसका वह

विद्रोही बेटा हबीब, जिसके विषय में वह सब आशाएँ छोड़ चुकी है, पाँच सौ रुपया महीना ले रहा है। (हबीब को इस बात का विश्वास था कि उसे कम-से-कम पाँच सौ रुपये तनख्वाह मिलेगी) तो वह खुदा का कितना शुक्र करेगी, जिसने उस आवारा लड़के के दिमाग़ में अक्ल डाल दी।

दरअसल जब हबीब ने बी० ए० पास किया तो हालाँकि बम्बई जाने की लालसा तब भी उसके मन में थी, लेकिन थर्ड का किराया ले कर भागने का विचार वह अपने मन से निकाल चुका था। बी० ए० तक पहुँचते-पहुँचते सिनेमा के जुनून की जगह शायरी के जुनून ने ले ली थी। सरवर की संगति ने उसे काव्य-मर्मज्ञ ही नहीं, अच्छा कवि और नाटककार भी बना दिया था। कॉलेज के दिनों ही में उसकी नज़्में न सिर्फ़ स्थानीय पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी थीं, वरन लाहौर के साहित्यिक साप्ताहिकों और मासिकों में भी उन्हें स्थान मिलने लगा था और बम्बई भाग जाने के बदले अब वह लाहौर भाग जाना, अपने अनदेखे शायरों से साक्षात्कार करना और लाहौर के अदबी मुशायरों में शामिल हो कर नाम पाना चाहता था। — चाहता था कि 'अख्तर' शेरानी और 'हफ़ीज़' जालन्धरी की तरह उसका नाम भी घर-घर गूंज उठे; उसकी नज़्मों के भी कटिंग रखे जायें, उसकी नज़्में भी कण्ठस्थ की जायें।

बम्बई की अपेक्षा लाहौर भागना कुछ सहज भी था। अवसर भी उसे मिल गया। हुआ यह कि एक दिन (और उसके बी० ए० पास करने के बाद यह प्रायः हर दिन होता था) उसके बड़े भाई ने उसकी आवारागर्दी पर उसे बहुत डाँटा। जो कष्ट सह कर उन्होंने उसे शिक्षा दिलायी थी, उनका ब्योरा विस्तार से दे कर उसे विवश किया कि वह नौकरी करे और शरीफ़ों की तरह टिक कर बैठे। जब हबीब ने कहा कि नौकरी कोई पेड़ से तो लगी नहीं कि मैं उसे तोड़ लूं तो उसके भाई ने बताया कि उन्होंने बड़ी मिन्नत-खुशामद से म्युनिसिपल कमेटी के प्रेज़ीडेण्ट को खुश करके, उससे वादा ले लिया है। हबीब को पैंतीस रुपये महीने पर तुरन्त नौकरी मिल सकती है। उसके भाई ने यह भी बताया कि उस नौकरी को पाने के लिए कई एम० ए० और एल० एल० बी० सिर पटक रहे हैं। और अम्मा से अपनी इस कारगुज़ारी की दाद चाहते हुए हबीब के भाई ने उससे कहा कि वह अपने इस लाडले बेटे को समझाये कि वह हाथ आयी इस नौकरी को न ठुकराये। इस पर अम्मा ने भी उसे उसकी आवारागर्दी पर कोसा और अपनी डाँट का प्रभाव डालने के लिए उसकी ग़ैर-ज़िम्मेदारी के मुकाबले में उसके स्वर्गीय पिता के परिश्रम और संघर्ष की चर्चा करके आँखें भर ली थीं। मन न होते हुए भी वह मान गया था और उसका भाई खुशी-खुशी उसे अपने प्रेज़ीडेण्ट की सेवा में ले गया और हबीब को बाकायदा गुलाम बना कर इस खुशी में उसने मुहल्ले में शीरीनी बाँट दी थी।

यद्यपि उस समय हबीब अपनी अम्मा के आँसुओं की रौ में बह गया था, लेकिन दो ही दिन में वह उस कैद और गुलामी से भाग निकला, जिसका हर पल गधे की तरह काम करने और गधे की तरह डाँट-डपट और अत्याचार सह कर चुप बने रहने की माँग करता था। हबीब के कवि का किसी कीमत पर भी अपने आपको ऐसे पैसे की ज़ंजीर में जकड़े जाना पसन्द न था, जिसमें उसकी रचनात्मक प्रतिभा जड़ हो कर सूख जाय। अपने पिता और उसके बाद अपने भाई की बद-दयानती, झूठ, पाखण्ड, घूसखोरी, चापलूसी, आत्मश्लाघा और सबसे बढ़ कर जड़ता से उसे बहुत घृणा थी। दो ही दिन में वह अच्छी तरह जान गया था कि उस वातावरण में अच्छे-से-अच्छा दिमाग़ भी चन्द दिनों में कुन्द हो जाता है और अच्छे-से-अच्छा दिल जड़ हो कर पत्थर बन जाता है। तभी उसे अमृतसर इस्लामिया कॉलेज के एक मुशायरे में शामिल होने का निमन्त्रण मिला। इण्टर का किराया उसे पेशगी आ गया था। मुशायरे में भाग लेने के बहाने वह ऐसा भागा कि फिर उसने घर की तरफ़ मुँह नहीं किया। अमृतसर से लाहौर, अलीगढ़, लखनऊ, हैदराबाद और दूसरी बीसियों जगह वह गया। कई कम्पनियों में एजेण्टी करते हुए उसने प्रान्त के विभिन्न स्थानों की सैर की। एक लायब्रेरी में लायब्रेरियन का काम किया। एक फ़र्म का एडवर्टाइज़िंग एक्सपर्ट बना। दो-एक साप्ताहिकों के कार्यालय में काम किया और एक बड़े राजनैतिक (लगभग अनपढ़) नेता का सेक्रेटरी बना — लेकिन इन तमाम विभिन्न प्रकार के कामों के बीच उसने अपना स्वाभिमान सुरक्षित रखा और अपनी रचनात्मक प्रतिभा के मोती को एक सीप की तरह अपने हृदय में छिपाये, उसे निरन्तर चमकाता रहा।

०

गाड़ी फिर एक पुल पर से गुज़र रही थी। उसकी आवाज़ फिर गड़-गड़ाहट में बदल गयी थी। हबीब के विचारों का क्रम फिर टूट गया। उसने देखा — समुद्र का एक टुकड़ा रेलगाड़ी के नीचे से गुज़र कर दूसरी तरफ़ चला गया है। ठण्डी हवा का एक सुखद झोंका आया और उसके साथ ही तीखी दुर्गन्ध का रेला। ध्यान से देखने पर उसे पता चला कि बसीन के टुकड़े की अपेक्षा यहाँ पानी ज़्यादा रुका हुआ, गँदला और उथला है और अनगिनत छोटी-छोटी झाड़ियाँ उगी हुई हैं।

यह सारी बदबू शायद पानी की रुकावट के कारण है — उसने सोचा — हमारा फ़िल्मी क्षेत्र भी क्या इसी पानी की तरह रुका हुआ गन्दगी-भरा नहीं। जब तक नयी प्रतिभा के रूप में उसमें नया पानी न आयेगा, उसकी गन्दगी दूर न होगी? किंचित गर्व की अनुभूति से वह मुस्कराया — अपनी ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा के बल पर वह इस क्षेत्र का रुकाव, गन्दगी और दुर्गन्ध दूर करने के लिए अन्य साहित्यकारों की सहायता करने जा रहा था, जो उससे पहले बम्बई आ चुके थे। उसे विशेष रूप से सरवर ने बुलाया था, जो स्वयं प्रख्यात साहित्यकार था — अपने महत्व की अनुभूति से हबीब का सिर किंचित ऊँचा उठ गया।

उसने सामने प्रतिपल विस्तृत होते हुए समुद्र के उस टुकड़े को देखा — निकट ही जहाँ पानी उथला था, माहीगीर जाँघों तक लँगोट कसे, मछलियाँ पकड़ रहे थे, ज़रा परे नावें चल रही थीं और दूर, जहाँ समुद्र का टुकड़ा काफ़ी विस्तृत हो गया था, एक छोटा-सा जहाज़ ऐसे दिखायी देता था, जैसे समुद्र की सुन्दरता को देखने के लिए रुक गया हो।

तभी बिना इंजन के भागती हुई एक गाड़ी सामने आ गयी। लोकल ट्रेन है शायद — उसने मन-ही-मन कहा और वह ध्यान से उसे देखने लगा। कुछ पल दोनों गाड़ियाँ साथ-साथ भागती रहीं। पहले ऐसा लगा कि लोकल ट्रेन तेज़ जा रही है। उसने सामने की गाड़ी के डिब्बे में खड़े चन्द लड़कों को अपनी गाड़ी के आगे निकल जाने की खुशी में उल्लास से चिल्लाते और उसकी ओर देख कर हाथों से निहायत भद्दे इशारे करते देखा। लेकिन धीरे-धीरे वह गाड़ी पीछे होती गयी, यहाँ तक कि नज़रों से ओझल हो गयी और हबीब हतप्रभ-सा लाइनों, बिजली के खम्भों, परे सड़क पर बने हुए ढालुवीं, तिकोनी छतों वाले मकानों और तेज़ी से भागते हुए लोकल स्टेशनों को देखता रहा कि अचानक एक स्टेशन पर फ्रण्टियर मेल धीमी हो कर एकदम रुक गयी।

हबीब उचक कर उठा।

उसका सहयात्री मुस्कराया, "नहीं, नहीं, यह सेण्ट्रल नहीं, दादर है!" उसने पूर्ववत कुहनी के बल लेटे-लेटे कहा और जले हुए सिगरेट का टुकड़ा खिड़की के बाहर फेंक कर दूसरा सिगरेट सुलगाया।

दादर — हबीब ने सोचा — यहीं तो सरवर रहता है। फिर वह सेण्ट्रल पर कैसे आयेगा?

"मैं स्टेशन पर मिलूँगा" — उसके तार के इन शब्दों का अर्थ कहीं यह तो नहीं कि वह दादर ही पर आयेगा। उसने खिड़की से पूरी गर्दन बाहर निकाल कर देखा — कुछ यात्री स्टेशन पर उतर रहे थे और सरवर का कहीं निशान तक न था।

वह गर्दन अन्दर करने ही वाला था कि दूर इंजन की ओर से उसे सरवर भागता हुआ आता दिखायी दिया। हबीब ने झट अटैची-केस हटा कर खिड़की खोली, बिस्तर बाहर फेंका और ट्रंक को घसीटता हुआ नीचे उतरा।

उसकी आँखों में जो अनुनय था, उसे देख कर उसका साथी मुसाफ़िर अपनी तन-आसानी छोड़ कर उठा और उसने ट्रंक नीचे उतारने में उसकी सहायता की।

"यह साली फ्रण्टियर मेल हमेशा लेट आती है। आज ही इस कम्बख़्त को

वक्त पर आने की सूझी।" सरवर आता-आता कह रहा था, "मैं तुम्हें सेण्ट्रल पर ही मिलता, लेकिन दादर स्टेशन पर मुझे बताया गया कि दो घण्टे का वक्त गाड़ी ने रास्ते ही में पूरा कर लिया है और यह वक्त पर आ रही है। तब मैं इधर भागा कि तुम्हें यहीं उतार लूँ।"

तभी गाड़ी चल दी और हबीब चिल्लाया – "मेरा अटैची!" – और गाड़ी के साथ भागा।

उसके साथी ने चलती गाड़ी में से हाथ बढ़ा कर अटैची-केस उसकी ओर फेंका। हबीब ने बढ़ कर उसे दबोचा, लेकिन उसके हाथों में आ कर भी वह नीचे गिर गया। पुराना खटका प्लेटफ़ार्म पर गिरते ही खुल गया और उसकी ग़रीबी का ढिंढोरा पीटता हुआ उसका पुराना टॉयलेट का सामान प्लेटफ़ार्म पर बिखर गया।

फ़ोल्डिंग बेड ||२||

ऐसी नीम-गनूदगी में (जिसे पंजाबी 'जागो-मीटी' कहते हैं और जिसमें नींद और बेदारी के डांडे मिले रहते हैं) हबीब सपने भी देख रहा था और सोच भी रहा था। कभी उसकी सोच निहायत साफ़ हो जाती और वह स्पष्ट रूप से अपने भूत और भविष्य पर ग़ौर करने लगता और कभी धीरे-धीरे उसकी कल्पना पर धुंधलके-से छाने लगते और न जाने किस अदृश्य रसायन से उसकी सोच सपने में घुल जाती और वह ख़्वाब देखने लगता।

जब वह बाल्कनी के इस फ़ोल्डिंग बेड पर लेटा था तो सबसे पहले सरवर से अपनी मुलाकात पर उसे हँसी आयी थी।

०

फ़िल्म इण्डस्ट्री में आने से पहले सरवर ऑल इण्डिया रेडियो में मुलाज़िम था। उसने वहाँ दो बरस काम किया था। इस बीच जितने भी मित्रों को हो सका, उसने ऑल इण्डिया रेडियो में बुलाने का प्रयास किया था। दूसरों को बात तो हबीब नहीं जानता, लेकिन जब सरवर ने उसे दो सौ रुपया मासिक पर मन्थली पेड आर्टिस्ट की जगह दिलायी थी तो वह जैसे उसके एहसान के बोझ-तले दब गया था। वह कोई ऐसी नौकरी चाहता था, जो उसके साहित्य-सृजन के मार्ग की बाधा न बने। अब तक उसने जितनी नौकरियाँ की थीं, उनसे उसके साहित्य का ज़्यादा सम्बन्ध न रहा था। नौकरी वह इसलिए करता था कि पेट की चिन्ता से मुक्त रहे और जो थोड़ा बहुत समय मिलता था, उसमें अपना लिखना-पढ़ना करता, जिससे उसकी आत्मा की भूख मिटती रहे।

रेडियो की यह नौकरी उसकी पहली नौकरियों से भिन्न थी। यहाँ उसका काम भी साहित्यिक था। यद्यपि उसे पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपि भी करनी पड़ती थी (और यह काम उसे निहायत ऊबाऊ और लग़ो मालूम होता) लेकिन अनुबन्ध करते समय स्टेशन डायरेक्टर ने उसे दो गीत, एक संगीत फ़ीचर अथवा एक नाटक लिख कर देने के लिए भी कहा था और उस थोड़ी-सी अवधि में हबीब ने चार नाटक और कुछ बहुत सुन्दर गीत लिखे थे और कुल मिला कर वह इस काम से असन्तुष्ट नहीं था। अब सरवर ने उस फ़िल्म में बुलाया था और उसके मित्रों ने उसे विश्वास दिलाया था कि रेडियो की अपेक्षा फ़िल्म का काम कहीं ज़्यादा साहित्यिक है। फ़िल्मों के सम्बन्ध में साहित्यकारों का एक कर्तव्य है – जिस तरह उन्होंने साहित्य को 'फ़ज़ल बुक डिपो' जैसे प्रकाशकों के चालू, सस्ते उपन्यासों की दलदल से निकाला है, उसी तरह फ़िल्मों को भी उन्हें स्टण्ट और फ़ार्मूलों की दलदल से निकालना चाहिए और यह सुअवसर देने के लिए वह मन-ही-मन सरवर का बहुत आभारी था।

उसने सोचा था कि जब वह स्टेशन पर सरवर से मिलेगा तो उसके घुटने छू कर अपनी श्रद्धा व्यक्त करेगा। उसका खयाल था कि सरवर यकीनन उसे बाँहों में भर लेगा और तब उस आलिंगन में भी वह उस गर्मजोशी का आभास दे देगा, जो वह अपने रोम-रोम में महसूस कर रहा था। लेकिन उसकी मुलाकात ऐसी हास्यास्पद होगी, यह उसने कभी नहीं सोचा था। घुटने छूने और आलिंगन-बद्ध होने की बात तो दूर रही, वह उससे हाथ तक न मिला सका था। प्लेटफ़ॉर्म पर अटैची गिर कर खुल जाने से वह ऐसा घबरा गया था कि सब कुछ भूल गया और जब सब चीज़ें उठा कर उसने अटैची-केस में यथास्थान रखीं (जिस काम में सरवर ने भी उसका हाथ बटाया) और बड़ी मुश्किल से अटैची-केस को बाहर की ओर खींच कर उसका खटका बन्द किया तो सरवर कुली के सिर पर सामान लदवा कर चलने को तैयार था।

बाहर आ कर सरवर ने एक टैक्सी वाले को आवाज़ दी थी और सामान डिकी में रखवा कर दोनों जने पिछली सीट पर लद गये थे। हबीब के लिए सेकेण्ड क्लास में यात्रा करने ही की तरह टैक्सी में बैठने का भी यह पहला ही अवसर था। टैक्सी बड़ी थी और गदेला निहायत आरामदेह था। वह बड़े इत्मीनान से अध-लेटा हो गया था। सरवर ने उसे बताया था कि स्टूडियो में दो-तीन नयी फ़िल्में बनने वाली हैं और पहले गीतकार से कम्पनी का झगड़ा चल रहा है। कण्ट्रोलर ऑफ़ प्रोडक्शंज़ सरवर का मित्र है। उसी से कह कर उसने उसे बुलाया है और वह उसे ज़्यादा-से-ज़्यादा तन्ख़ाह दिलाने का प्रयास करेगा। उसके बाद सरवर

ने वहीं टैक्सी पर बैठे-बैठे फ़िल्म के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण और अपनी योजनाएँ बतायी थीं।

"अगर हम लोग मिल कर एक यूनिट बना लें तो हमारे लिए अपनी कम्पनी खोलना ज़रा भी मुश्किल नहीं। ब्लैक मार्केट की वजह से रुपये की इफ़रात है और फ़ाइनेन्सरों की समझ में नहीं आता कि इस रुपये का क्या करें। यूनिट बन जाय तो फिर फ़ाइनेन्सर फँसाया जाय...."

०

लेकिन यहीं हबीब की विचार-धारा पर कुछ धुंधलके-से छाने लगे और सरवर के साथ अपने आपको टैक्सी में बैठे देखते-देखते उसने खुद को रोल्ज़ रॉयस में बैठे पाया – पाया कि वह एक बड़ी कम्पनी का मालिक-प्रोड्यूसर है। देश के सभी नामी साहित्यकार उसकी कम्पनी में काम करते हैं। दो अपेक्षाकृत नये साहित्यकार तो उसके सेक्रेटरी बने, उसके साथ बैठे हैं। देश की फ़िल्म इण्डस्ट्री में वह क्रान्ति ले आया है। सस्ती, घटिया, भावुक और अयथार्थ प्रेम का प्रदर्शन करने वाली फ़िल्मों की जगह उसने वास्तविक जीवन को रूप देने वाले चित्र बना कर देश में तहलका मचा दिया है – वह कम्पनी में दाखिल होता है तो गैलरी में उसे अपनी मूर्ति स्थापित दिखायी देती है (जिसे यूरोप के एक मूर्तिकार ने बनाया है।) ऑफ़िस में जाता है तो सामने उसे अपना आदमकद तैल चित्र टँगा दिखायी देता है (जिसे एक चीनी कलाकार ने बनाया है।) वह जा कर कुर्सी पर बैठता है और घण्टी बजाता है और चपरासी से कहता है कि कण्ट्रोलर ऑफ़ प्रोडक्शंस को हमारा सलाम दो। तुरन्त कण्ट्रोलर ऑफ़ प्रोडक्शंस आ हाज़िर होता है। यह उसके मित्र सरवर के सिवा कोई दूसरा नहीं, लेकिन तभी उस गद्देदार कुर्सी में कोई चीज उसे चुभती है। वह नाखूनों से ज़रा-सा उसे मसल देता है, लेकिन वह उसे फिर चुभती है। तभी जब वह गुस्से से कुर्सी घुमा कर उछलता है तो उसका सिर दीवार के साथ जा टकराता है।

हबीब के दिमाग़ पर छाये धुंधलके उसी तरह छँट गये, जिस तरह ईंट गिरने से तालाब के ठहरे रुके पानी पर काई। और जिस तरह काई के छँटने पर साफ़ पानी झलक उठता है, उसी तरह उन धुंधलकों से उसकी चेतना जाग उठी और उसने देखा कि वह सरवर की बालकनी में फ़ोल्डिंग बेड पर सोया हुआ है और खटमल के काटने से करवट लेने पर उसका सिर बालकनी की दीवार से जा टकराया है।

०

सिर की चोट को सहला कर हबीब फिर सीधा लेट गया। कुछ क्षण उसका दिमाग़ ठीक सोचता रहा। छत पर हाल ही में सफ़ेद पलस्तर किया गया था और वह दूध-धुली चादर-सी साफ़ थी। कुछ पल वह चुपचाप उसे देखता रहा, फिर उसकी

थकी हुई आँखें मुंद गयीं, लेकिन उसके दिमाग पर धुंधलके नहीं छाये। वह स्पष्ट रूप से सोचता रहा।

यद्यपि जीवन में पहली बार उसने सेकेण्ड क्लास में यात्रा की थी, लेकिन जोश के मारे उसे नींद नहीं आयी थी। वह अपनी ज़िन्दगी में एक नये रास्ते पर महत्वपूर्ण कदम उठा रहा था – बड़ी-बड़ी आकांक्षाएँ, बड़ी-बड़ी योजनाएँ उसके दिमाग़ में रूप ले रही थीं। कभी-कभी संशय भी उसके मन में सिर उठाते। वह सोचने लगता – जितने भी साहित्यकार फ़िल्म इण्डस्ट्री में आये हैं, उनमें से एक भी तो फिर नहीं उभरा। लगता था, जैसे यह इण्डस्ट्री एक बड़ा भयानक अजगर है, जिसकी साँस साहित्यकारों को इस तरह खींच रही है कि वे अनायास चले आते हैं और सीधे उसके पेट में जा समाते हैं और वहीं उनकी हड्डी-पसली तक एक हो जाती है....लेकिन तभी उसे अपने मित्रों की बात याद आती – जब उसने अपने यही संशय उनके सामने रखे थे तो उन्होंने कहा था कि शुरू में तो यह होगा ही। इण्डस्ट्री के हर विभाग पर आप लोगों को अधिकार पाना होगा, तभी कुछ सुधार हो सकेगा। और वह अपनी सारी शंकाओं और संशय को परे धकेल कर नये सपने देखने लगा था और उसकी नींद उड़ गयी थी।

फिर यह कारण भी था कि सेकेण्ड का डिब्बा नाम को सेकेण्ड का डिब्बा था। युद्ध की वजह से न उसके गद्दे बदले गये थे, न उनकी मरम्मत हुई थी और अब वे इतने ज़्यादा खराब हो गये थे कि युद्ध से पहले के इण्टर के गदेले उनसे कहीं ज़्यादा बेहतर थे। कई जगह से नारियल धचक गया था, लोहे के स्प्रिंग निरन्तर हबीब की पीठ में चुभते रहे थे और अब उस का अंग-अंग दुख रहा था और थकान और नींद के कारण उसकी आँखें करकरा रही थीं। लेकिन ये खटमल कम्बख्त बराबर उसकी पसलियों को काटे जा रहे थे। एक बार फिर नाखूनों से वहाँ खुजला कर हबीब अब के सावधानी से दूसरी ओर करवट बदल कर लेट गया।

टैक्सी कुछ ही देर में सरवर के घर पहुँच गयी थी। पहली मंज़िल पर पहुँच कर सरवर ने कॉल-बेल का बटन दबाया तो दरवाज़ा उसकी बीवी मन्नो ने खोला था। 'आदाब अर्ज़' करते समय जो पहली चीज़ हबीब ने नोट की थी, वह यह थी कि दिल्ली की मन्नो और बम्बई की मन्नो में आकाश-पाताल का अन्तर हो आया था। क्षण भर को वह चकित-सा खड़ा उसे देखता रह गया था। दिल्ली की मन्नो भाभी को उसने प्रायः देखा था – सीधी-सादी, भोली-भाली, लज्जा के बोझ से दबी-दबी गिरस्तन – लेकिन यह मन्नो तो उसे किसी बेबाक एक्ट्रेस-सी लगी – उसके होंटों पर लिपस्टिक और गालों पर पाउडर का गुबार था; भँवों के बाल कोनों से उड़ा कर पेंसिल से उन्हें तिरछा बना दिया गया था; दुबालादार सुरमा आँखों के आकर्षण को दुगुना कर रहा था। बालों के घूंघर हेयर ड्रेसर की कृपा

के आभारी थे और यद्यपि उसने जम्पर और ग़रारा भी पहन रखा था, लेकिन जम्पर इतना फ़िट और कसा हुआ था कि हर रेखा उजागर हो रही थी। ग़रारा रेशमी, भड़कीला और फ़र्श को छू रहा था और चुन्नटदार चुनरी नागिन-सी गले में लिपटी हुई थी।

"कहिए, ख़ैरियत से आये ?" और मन्नो ने सीधी निगाह से उसकी ओर देखा।

हबीब की निगाहें झुक गयीं। "आपकी दुआ से पहुँच ही गया हूँ भाभी !" उसने कहा और ड्राइंग-रूम में दाखिल हुआ।

ड्राइंग-रूम काफ़ी बड़ा और फ़र्नीचर से सुसज्जित था। सामान रखवा कर अजाने ही सरवर अपने फ़्लैट की विशेषता दिखाने को उसे बालकनी पर ले गया, जो समुद्र के ठीक ऊपर खुलती थी। किंचित गर्व-भरे स्वर में उसने कहा, "ज़रा मेरे फ़्लैट से समन्दर का नज़ारा तो करो। जब चौदहवीं का चाँद आसमान में लटका होता है और समन्दर में ज्वार-भाटा आता है तो पागल लहरें हमारे मकान की चार दीवारी से बार-बार टकराती हैं। इसी से तो मालिक ने इसका नाम 'सागर तरंग' रखा है।"

"बम्बई में तो सुना है, मकान मिलते ही नहीं; तुम्हें इतना ख़ूबसूरत फ़्लैट कैसे मिल गया ?" हबीब ने साश्चर्य पूछा था।

"पिछले साल," सरवर ने कहा, "जब बम्बई में जहाज़ को आग लगी थी तो बेशुमार लोग यह समझ कर कि जापानी आ रहे हैं, शहर छोड़ कर भाग गये थे। यह मकान भी खाली हो गया और फट हम लोगों ने इस पर कब्ज़ा कर लिया। एक दिन भी लेट हो जाते तो सारे मकान पर मिलिट्री का कब्ज़ा जम जाता। साथ के फ़्लैट में एहसन रहता है, नीचे पारिख और लता रहते हैं और ऊपर के फ़्लैटों पर मिलिट्री का कब्ज़ा है।"

हबीब ने सामने दृष्टि-सीमा तक फैलते समुद्र पर एक निगाह डाली — बसीन का टुकड़ा इस विशाल सागर के सामने उसे तुच्छ लगा। ज्वार आ रहा था, लहरें बार-बार रेतीले किनारे से टकरा रही थीं। ज्यों ही एक लहर तट को छू कर वापस मुड़ती कि दूसरी रेला मारती हुई बढ़ी चली आती। किनारे के ज़रा परे दोनों टकरा जातीं और फेन की एक छोटी-सी दीवार किनारे के दोनों ओर बनती-मिटती चली जाती। कितनी ही देर तक वह झाग की उस बनती-मिटती दीवार को देखता रहा। दोनों ओर उसका पीछा करके उसने उस समुद्र-तट को भी देखा — छोटा-सा ख़ूबसूरत तट ! बालकनी ही से वह उसके विस्तार का अन्दाज़ लगा सकता था। तभी उसके जी में आयी थी कि वह उसी क्षण नीचे जाये और उस सूने, गीले, रेतीले तट पर एक सिरे से दूसरे सिरे तक नंगे पाँव भागता चला जाय, लेकिन हठात उसकी नज़र दूर समुद्र के बीचों-बीच लगभग

एक ही पंक्ति में तैरती हुई नावों के सफ़ेद पालों पर चली गयी। उसने सोचा, शायद ये नौकाएँ सरकारी पहरुओं की हैं और समुद्र-तट की रक्षा के लिए तैनात हैं। अचानक सरवर की ओर मुड़ कर उसने पूछा, "ये किश्तियाँ क्या सरकारी हैं ?"

"नहीं, माहीगीरों की हैं," सरवर ने जवाब दिया, "मछली यहाँ के लोगों की ख़ूराक का ज़रूरी हिस्सा है। माहीगीर ज्वार-भाटे के साथ ही बहुत तड़के निकल जाते हैं, दिन भर मछली पकड़ते हैं, वहीं सिगड़ी पर मछली भून कर खाते हैं और इधर तीसरे पहर और उधर भोर में टोकरे-के-टोकरे मछलियों से भरे ले कर लौटते हैं। किनारे से आने वाली बसें और लोकल गाड़ियों के डिब्बे इन टोकरों से भरे रहते हैं। आज तुम्हें भी पॉम्फ्रेट खिलायेंगे — मन्नो को मछली बेहद पसन्द है।"

और लगभग एक ही पंक्ति में उड़ते हुए उन पालों को देखते-देखते हबीब का मन कल्पना के पंख लगा कर उन नावों में बैठे मछुआरों से जा मिला, जिन्हें किसी की ग़ुलामी पसन्द नहीं और जो अपने बाहु-बल से समुद्र की गहराइयों से अपनी जीविका छीन लाते हैं — वह ख़ुद भी तो अब तक माहीगीर ही रहा है — आज़ाद, लेकिन ग़रीब ! सीमाहीन सागर में कल्पना के जाल डाल कर कला की सुनहरी मछलियाँ पकड़ लाता रहा है और उन्हें बेच कर किसी-न-किसी तरह जीविका चलाता रहा है — इन माहीगीरों की तरह उसके परिश्रम का लाभ भी वे दुकानदार उठाते रहे हैं, जिनके पास ख़ून-पसीना एक करके रची हुई अपनी उन कला-कृतियों को वह बेचता रहा है — लेकिन उसे अपनी यह आज़ादी हमेशा पसन्द रही है।

हबीब का दिमाग़ उन माहीगीरों के साथ न जाने कहाँ-कहाँ की सैर करता अगर मन्नो अन्दर से आवाज़ न देती कि वह जल्दी नहा ले, लंच तैयार है और सरवर से यह न कहती कि बारूदवाला का फ़ोन आया था, उसे फ़ोन कर लीजिए।

हबीब जल्दी से साबुन-तेल और तौलिया ले कर गुसलख़ाने की ओर भागा था। उसके कारण लंच में देर हो जाय यह उसे हरगिज़ स्वीकार न था। इसलिए उसने निश्चय किया था कि वह यथाशीघ्र नहा कर निकल आयेगा।

स्नानघर सफ़ेद टाइलों का बना था, लेकिन लगता था जैसे हफ़्तों से साफ़ नहीं किया गया। कोनों में धूल जमी हुई थी, खिड़की की सिल पर भी जहाँ साबुन, तेल, टुथपेस्ट, ब्रश और न जाने कितनी तरह के शैम्पू रखे हुए थे, गर्द की एक हल्की-सी परत चढ़ गयी थी। उससे पहले नहाने वाले ने तेल की शीशी एक जगह से उठा कर रखी थी, उस शीशी की जगह टाइल पर गोल निशान बना हुआ था। स्नानघर में गर्म पानी की भाप में विभिन्न तेलों-साबुनों और देहों की मिली-जुली बू थी। हबीब नल खोल कर पाँवों से स्नानघर के फ़र्श को साफ़

करने लगा। तब फ़र्श साफ़ करते-करते उसके सामने दिल्ली में सरवर का स्नान-घर घूम गया, जहाँ संयोग से वह एकाध बार नहाया था। उसमें न टाइलें थीं, न इतना साज़-सामान, लेकिन सफ़ाई ग्रौर स्वच्छता उसकी एक-एक ईंट से टपको पड़ती थी।

फ़र्श ग्रौर चौकी साफ़ करके हबीब नहाने बैठा तो पानी से भरी बाल्टी पर उसकी नज़र चली गयी। ग्रच्छी तरह साफ़ न करने से उसके ग्रन्दर गोल दीवार पर तेल से मिली हुई मैल की काली-सी तह जम गयी थी।

"मन्नो ने शायद खुद काम करना छोड़ दिया है," उसने मन-ही-मन सोचा ग्रौर हालाँकि उसकी तबियत मिचला रही थी, फिर भी वह नहाने बैठ गया। पानी खूब गर्म था, उसका शरीर थका हुग्रा था, वह ग्रच्छी तरह मल-मल कर नहाया। गर्म पानी से नहाना भी उसके लिए ऐयाशी से कम न था। उसे मात्र एक ग्रवसर याद था, जब उसे सात दिन तक बुखार रहा था ग्रौर ग्राराम ग्राने पर उसकी ग्रम्मा ने उसे गर्म पानो कर दिया था। नहीं तो उसे बीसियों ऐसे दिन याद थे, जब सख्त सर्दी में वह मुहल्ले के कुएँ पर ठण्डे पानी से नहाया था ग्रौर जब पानी का पहला लोटा हड्डियों तक को जमाता हुग्रा चला गया था। भारत में चूंकि ग़रीबों की बहुतायत है ग्रौर ग्रात्म-वंचना चूंकि ग्रादमी की सबसे बड़ी खूबी है, इसलिए यहाँ ग़रीबी को ऊँचा स्थान दिया जाता है ग्रौर ग़रीबी से सम्बद्ध सभी चीज़ों को सुख-सुविधा की चीज़ों से श्रेष्ठ बताया जाता है। यहाँ तक कि भगवान तक को दीनानाथ, याने ग़रीबों का स्वामी ग्रौर दीनबन्धु ग्रर्थात ग़रीबों का भाई कहा जाता है। हबीब को ग्रम्मा की सीख याद ग्रायी कि ग्रामले के खाने ग्रौर ठण्डे पानी से नहाने का मज़ा बाद में ग्राता है। उसको ग्रम्मा सदा उसे कहा करती थी कि ठण्डा पानी स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है ग्रौर गर्म पानी से तो रोगी नहाया करते हैं।

ग्रम्मा की इस सीख के बावजूद हबीब बड़े मज़े से मल-मल कर नहाया। रात की कष्टप्रद धूल-भरी यात्रा के बाद गर्म पानी से नहाने में उसे बड़ा सुख मिला।

नहा कर ग्रौर कपड़े बदल कर ड्रॉइंग-रूम में ग्राया तो नौकर मेज पर खाना लगा रहे थे। सरवर शायद शायद साथ के फ़्लैट में एहसन से मिलने चला गया था। हबीब कौच पर लेट गया।

ड्रॉइंग-रूम एक ही समय बैठने, लिखने-पढ़ने ग्रौर खाना खाने के काम ग्राता था। एक तरफ़ किताबों की ग्रालमारियाँ ग्रौर खूबसूरत रैक थे, दूसरी ग्रोर सुन्दर डाइनिंग टेबल ग्रौर सामने लिखने की मेज़, जिस पर निहायत बढ़िया कलमदान ग्रौर पैड रखा था। उसके साथ खिड़की के बराबर रैक में रखी एक-जैसी काले चमड़े की जिल्दों में बँधी किताबों का सेट या। वह उठा। जा कर

उसने एक किताब निकाली। हार्डी का उपन्यास था – लेकिन जब उसने उसे खोला तो पाया कि उसके पृष्ठ तक जुड़े हुए हैं। ग्रालमारी में हर विषय पर बड़ी-बड़ी पुस्तकें थीं – नाटक, कहानी, उपन्यास, टाइम्ज़ ग्राफ़ इण्डिया प्रेस से प्रकाशित होने वाली पुस्तकों के सेट; ग्रार्ट ग्रौर फ़ोटोग्राफ़ी की किताबें, लेकिन उन पर पड़ी हुई धूल की बेहद हल्की-सी परत ने उसे बता दिया कि वे पढ़ने की ग्रपेक्षा मेहमानों पर रोब डालने के काम ज़्यादा ग्राती हैं। मेज़ की एक ग्रोर सरवर का टाइप राइटर पड़ा था। उत्सुकता-वश हबीब ने उसे खोला। लगता था, जैसे बरसों से न उसे किसी ने इस्तेमाल किया है, न साफ़ ग्रौर हबीब को याद था कि रेडियो में ग्रपनी नौकरी के दिनों में सरवर एक-डेढ़ घण्टा उसकी सफ़ाई में लगाता था ग्रौर उसे रोज साफ़ करने के लिए उसने कैमोस लेदर का बड़ा-सा टुकड़ा रखा हुग्रा था। टाइप करने के पहले ग्रौर बाद वह उसके काले चमकीले लोहे को मल कर चमका देता था ग्रौर गर्व से कहा करता था कि यह लेखक का ग्रौज़ार है, इसे हर समय चमकाते रहना चाहिए।

"टाइप राइटर शायद ग्रब सरवर का ग्रौज़ार नहीं रहा।" उसने सोचा।

तभी सरवर ग्रा गया। मन्नो ग्रौर वह खाने को मेज पर गये। खाना निहायत पुरतकल्लुफ़ था – पॉम्फ़्रेट थी, कोफ़्ते थे, पुलाव था, ग्रण्डों का हलवा था – हबीब की भूख भी चमक ग्रायी थी, लेकिन वह नदीदा दिखायी न दे, इस खयाल से मन्नो के ग्राग्रह करने पर भी उसने थोड़ा-थोड़ा सालन ग्रपनी प्लेट में में डाला ग्रौर कद्रे उदासीनता से खाने लगा।

खाने के दौरान सरवर ग्रौर मन्नो ही प्रायः बातें करते रहे – किसी मिस्टर चटर्जी की, जो कम्पनी का कण्ट्रोलर ग्राफ़ प्रोडक्शंस था, जिसने फ़िल्म इण्डस्ट्री में तहलका मचा दिया था; छै हिट जुबली फ़िल्में एक साथ बनायी थीं, जिसे पब्लिक की रुचि का ऐसा ज्ञान था, जैसा किसी ग्रनुभवी डॉक्टर को रोगी की नाड़ी का होता है ग्रौर जो इस तरह ग्रपने ग्रादमियों से काम लेना जानता था, जिस तरह कोई चतुर प्रधान मन्त्री ग्रपने मन्त्रि-मण्डल के सदस्यों से....एक बार जब सरवर ने तीन दिन तक एक सीन न लिखा था तो वह उसके घर ग्राया था, वहीं शराब की महफ़िल जमी थी ग्रौर तब सरवर को ऐसा सीन सूझा था कि लोग हँसी के मारे लोट-पोट हो गये थे।

हबीब हैरान था कि ऐसा कौन-सा प्रोड्यूसर था डायरेक्टर है, जिसने छै हिट फ़िल्में बनायी हैं ग्रौर वह उसे नहीं जानता। चटर्जी – यह नाम तो उसने सुना ही नहीं था।...शान्ताराम का नाम सुना था ग्रौर हबीब के खयाल में उसकी फ़िल्म 'ग्रादमी' हिन्दुस्तान की श्रेष्ठतम फ़िल्म थी। हबीब ग्रपने एक मित्र को जानता था, जो ग्रपनी पत्नी के देहान्त पर ग्रात्म-हत्या की मनःस्थिति में था, लेकिन 'ग्रादमी' देख कर न केवल उसका वह मूड बदल गया, बल्कि वह जिन्दगी

के संघर्ष में नये सिरे से जुट गया था।....देवकी बोस का नाम उसने सुना था। उसे कोई भारत की दो श्रेष्ठतम फ़िल्मों के नाम लेने को कहता तो वह तुरन्त 'ग्रादमी' के साथ 'विद्यापति' का नाम लेता। इस बात के अलावा कि उसमें कानन ने जो काम किया, वह फिर कभी नहीं किया, उस फ़िल्म की प्रतीकात्मकता, संगीत और काव्य हबीब के मन में बेतरह बस गया था। फिर उसका आधारभूत विचार – कितना सुकुमार और सूक्ष्म, लेकिन डायरेक्टर ने किस कौशल और दक्षता से उसे फ़िल्म के पर्दे पर उजागर किया था – एक कवि अपनी प्रेरणा के क्षणों में अपने प्रियतम (वह प्रियतम कृष्ण है) के गीत गाता है, लेकिन लोग – जो उदात्त को हास्यास्पद और हास्यास्पद को उदात्त बनाने में निपुण हैं – किस तरह उसके दिव्य गीतों में (जो उसके मन की वीणा के पवित्रतम तारों की झंकार थे) अपनी वासना की तुष्टि का सामान ढूंढ लेते हैं।....उसने बरुग्रा का नाम सुना था। भावुक, रोमानी फ़िल्में बनाने में बरुग्रा का जोड़ न था। 'देवदास,' 'मंज़िल,' 'मुक्ति' और फिर 'जवाब' – उसकी सभी फ़िल्में एक रोमानी, काव्य-प्रेमी भावुक मस्तिष्क की उपज थीं।....उसने नीतिन बोस का नाम भी सुना था, जिसने 'चण्डीदास' बना कर सर्वोत्तम डायरेक्टरों की पंक्ति में स्थान पा लिया था। उसने महबूब, कारदार और सोहराब मोदी के नाम भी सुने थे। लेकिन यह चटर्जी, जिसके नाम का इण्डस्ट्री में तहलका है....हबीब को अफ़सोस था कि इतने प्रख्यात, ऐसे अद्वितीय डायरेक्टर का नाम तक उसे मालूम नहीं – झिझकते-झिझकते उसने पूछा था कि चटर्जी ने कौन-सी हिट फ़िल्में बनायी हैं।

तब सरवर के बदले मन्नो ने कहा था – "आपने 'किस्मत' नहीं देखी? कलकत्ता में दो बरस से चल रही है। अभी 'भूला' ने बम्बई में जुबली मनायी थी।"

'भूला' का नाम सुन कर हबीब का दिल धड़का था। तो उसे 'भूला' के डायरेक्टर के साथ काम करना पड़ेगा? एक दिन दिल्ली में उसका मन निहायत उदास था, वह फ़व्वारे के पास से गुज़र रहा था कि जुबली टॉकीज में चला गया था, क्योंकि उसमें एक जुबली पिक्चर लगी हुई थी, जिसे पच्चीस हफ़्ते चलते हो गये थे। टिकट ले कर हबीब अन्दर जा बैठा था – निहायत फूहड़, बेतुकी, बेमानी, लगभग असम्भव कहानी; खासे घटिया, चूं-चूं का मुरब्बा गाने और नाच – हबीब उसकी हास्यास्पद विषय-वस्तु पर बहुत देर हंसता रहा था। एक नौजवान रेडियो-पत्रिका के कवर पेज पर एक गायिका की तस्वीर देखता है, उस पर फ़िदा हो जाता है और जब चचेरे भाई से (जिसने धोखे से उसकी सम्पत्ति पर अधिकार पा लिया है) झगड़ कर घर से निकलता है तो उस लड़की के शहर में जा उतरता है। उसका भाई भी खासी कलाबाजी खाने के बाद उसी के प्रेम में फँस जाता है और अन्त में काफ़ी बेतुकी मुश्किलों को पार करके उसे पा लेता है – हबीब को

यही मालूम न हुआ था कि उस फ़िल्म का नाम 'भूला' क्यों रखा गया है, सिवा इसके कि उसमें 'भूला' का एक गाना था।

आखिर जब उससे न रहा गया तो उसने डरते-डरते पूछा था, "क्यों सरवर, क्या ऐसी ही फ़िल्में बनाने के लिए हम इस इण्डस्ट्री में दाखिल हुए हैं?"

"तुम तो पागल हो," सरवर बोला था, "हमें इस इण्डस्ट्री पर कब्ज़ा जमाना है, उसकी ग़लाज़त दूर करनी है। किसी गली की गन्दगी दूर करने के लिए उसके अन्दर तो जाना ही पड़ेगा।"

तभी मिस्टर चटर्जी का फ़ोन आया। लपक कर सरवर उठा। चन्द मिनट 'जी हाँ,' 'हाँ जी' करने के बाद उसने कहा, "ज़रा ठहरिए, मन्नो आपसे बात करना चाहती है।"

मन्नो के चेहरे का रंग लाल हो गया। उठ कर उसने फ़ोन थामा और (जैसे उसे चटर्जी देख रहे हों) वहीं बल खाते, मुस्कराते और लाल होते हुए चटर्जी के आदाब का जवाब दिया।

तब परे बैठे सरवर ने लुक्मा दिया, "पूछो, मालिश-वालिश अब कैसी है?"

मन्नो ने पूछा और उत्तर पा कर फिर थोड़ा-सा हँसी। सरवर ने फिर उकसाया, "मालिश करके शीश आसन लगाया कीजिए न!"

मन्नो ने कहा और उत्तर पाने पर फिर कुछ हँसी।

इस तरह सरवर के लुक्मा देने पर मन्नो हल्के-हल्के मज़ाक करती और रूपहली हँसी बिखेरती रही। अन्त में, "हाँ हाँ, ज़रूर हाज़िर होंगे! हाँ, हबीब भाई को भी लायेंगे" कह कर उसने चोंगा रख दिया।

हबीब का जी चाहा, पूछे – "कहाँ?" – लेकिन यह औत्सुक्य और बेताबी कहीं अतिथि-धर्म के सिलसिले में अनुचित न दिखायी दे, यह सोच कर वह चुप रहा और उसने यही प्रकट किया, जैसे यह बात उसने सुनी ही नहीं। सरवर पूर्ववत चटर्जी के गुण गाने लगा।

खाना खत्म हो चुका था। हबीब हाथ धो कर लौटा तो सरवर ने उसे बताया कि उसे बारूदवाला से मिलने जाना है, शाम को वह वापस आ जायेगा।

हबीब ने कहा कि वह भी लेटना चाहता है, बहुत थक गया है, कुछ देर सोयेगा और सरवर शौक से बारूदवाला छोड़, एटमबमवाला के हो आये।

तब सरवर ने एक फ़ोल्डिंग बेड बालकनी में डलवा दिया और हबीब का बिस्तर उस पर बिछवा दिया।

फ़ोल्डिंग बेड चौड़ाई में इतना छोटा था कि करवट बदलने पर उससे गिर जाने की आशंका थी। सावधानी के लिए उसने उसे बालकनी की दीवार के साथ लगा लिया और अचानक कुछ अजीब-सी सुखानुभूति से उस पर लेटते हुए कद्रे हँस कर पूछा –

"क्यों सरवर, फ़िल्म में कामयाब होने के लिए तुम्हें कौन-सा गुर सबसे अच्छा लगा ?"

तब सरवर ने (जो सदा नयी बात कहने में विश्वास रखता था) हँसते हुए कहा – "बस, फ़ोल्डिंग बेड बन जाओ ।" और उसी तरह हँसता हुआ वह चला गया ।

वहीं लेटे-लेटे हबीब के मस्तिष्क में सरवर का यह वाक्य कौंध गया – फ़ोल्डिंग बेड – वह मन-ही-मन हँसा । सरवर चौंकाने वाला लेखक था – ऐसी बातों के बारे में और इस तरह लिखता, ऐसी नयी और विलक्षण उपमाएँ देता, जिनसे पाठक को सहसा आघात लगता । एक लेखक के बैग को जो सदा भरा रहता था और जिसे वह सदा अपने साथ लिये रहता था, सरवर ने गर्भवती स्त्री के फूले हुए पेट से उपमा दी थी । एक पढ़ी-लिखी कुँआरी लड़की को, जिसने अपने आपको समाज-सेवा के अर्पण कर दिया था, उसने डाली से लगे-लगे सूख जाने वाली नारंगी कहा था । उसकी यही विशेषता उसे दूसरे लेखकों से अलगाती थी । किस समय वह क्या कह देगा, कोई न जानता था । बहुत-से लोग, जिनकी आस्थाओं की दीवारें वह दो-एक चोटों में ही गिरा देता था, उसे गालियाँ देते घूमते थे ।....

'तो सिनेमा में सफल होने के लिए फ़ोल्डिंग बेड बनने की ज़रूरत है,' हबीब ने मन-ही-मन सोचा – 'मौका पड़े तो उसकी तरह बिछ जाओ और वक्त गुज़र जाय तो सिकुड़ कर ऐसे अलग खड़े हो जाओ, जैसे कभी पहचान ही नहीं थी – शायद सरवर का भी यही मतलब था ।'

o

लेकिन यहीं उसकी सोच पर धुँधलके छाने लगे । न जाने किस जादू के प्रभाव से उसने अपने आपको एक हॉल में (जो उसके अपने शहर के मँडवे जैसा था) फ़िल्मी लेखकों के सामने भाषण करते पाया ।

"फ़ोल्डिंग बेड बनना क्या किसी जेनुइन लेखक को शोभा देता है ! यह चापलूसी कारोबारी लोगों के लिए ही ठीक है । लेखक तो मुश्किल-से-मुश्किल हालात में भी अपना सिर ऊँचा उठाये रखता है । किसी लेखक के लिए खुशामद करना सीखने की नसीहत देना उतना ही घातक है, जितना कि व्यापारी को सच्ची बात कहने की राय देना !"

और तब उसने समर्थन के लिए प्रधान की ओर देखा, जहाँ मन्नो बैठी थी और किंचित उल्लास से उसने कहना शुरू किया –

"लेखकों को खुशामदपरस्ती की ज़िन्दगी से बचाने के लिए, उन्हें इस भ्रष्ट इण्डस्ट्री की दलदल से निकालने के लिए हमने यह कम्पनी खोली है । हम पब्लिक को नैतिकता और घरों की शान्ति तबाह करने वाली थर्ड रेट फ़िल्में बनाने के बदले ऐसी फ़िल्में बनायेंगे, जो न सिर्फ़ आम लोगों की ज़िन्दगी का खाका खींचें, बल्कि उन्हें बेहतर ज़िन्दगी, बेहतर चलन और बेहतर आदर्श की तस्वीर भी दिखायें ।"

और उसने भाषणकर्ताओं के-से खास अन्दाज में एड़ियाँ उठा कर पीछे की ओर देखा, जहाँ कतार-दर-कतार फ़ोल्डिंग बेड रखे थे और निहायत गर्व-भरे स्वर में कहा –

"इसलिए हम सबने फ़ोल्डिंग बेड अपने घरों से निकाल दिये हैं । हमें खुशामद के ये सिम्बल नहीं चाहिएँ । आइए, हम आज़ादी के इस विशाल सागर में जी भर सैर करें ।"

हबीब को याद नहीं कि उसने उपस्थित जनता को सागर की सैर करने को आमन्त्रित किया था या नहीं, लेकिन उसने ज़रूर किया होगा, क्योंकि उसने देखा, फ़ोल्डिंग बेड किश्तियाँ बन गये हैं और वह दूसरों के साथ उनमें बैठ कर मछलियाँ पकड़ रहा है । इस बीच कई बार वह बिल्कुल सो गया, लेकिन जब भी उसकी नींद टूटी, उसने अपने आपको वॉल्ट डिसनी के मिकी माउस की तरह एक बड़ी-सी चर्खी के पास, हाथ में तीर लिये शार्क मछलियों का शिकार करते देखा । एक शार्क ने सिर उठाया कि उसने तीर मारा । चर्खी घूमी, उसने चर्खी को थामा लेकिन शार्क ज़ोर मारती गयी और रस्सी खींचती गयी, इतना कि एक झटके से चर्खी के साथ ही वह समुद्र में जा गिरा । अगले क्षण उसने शार्क मछलियों को बड़े-बड़े दाँत निकाले चारों ओर से अपनी तरफ़ बढ़ते देखा । उसने चीखना चाहा, लेकिन उसे अपने सीने पर भारी बोझ महसूस हुआ । दो-तीन बार चाहने पर भी चीख उसके कण्ठ से न निकली । तब सहसा उसकी आँखें खुल गयीं । उसने देखा कि उसका हाथ उसकी छाती पर है और उसके माथे पर पसीना आ गया है ।

o

जाने वह कितनी देर तक सोता रहा था, क्योंकि शाम के साये बढ़ आये थे । पल भर को वह उसी तरह लेटा रहा । फिर अपने इस सपने पर मुस्कराया । फिर उसने माथे से पसीना पोंछा । तब वहीं फ़ोल्डिंग बेड पर लेटे-लेटे पूरे ज़ोर से उसने अँगड़ाई ली और फिर एकदम उचक कर उठा बैठा ।

वह इतने ज़ोर से उठा कि फ़ोल्डिंग बेड फ़ोल्ड होते-होते और वह गिरते-बचा । वास्तव में उठने से पहले क्षण भर को वह भूल गया था कि वह दिल्ली के अपने कमरे के पलँग पर नहीं, बल्कि बम्बई के इस फ़्लैट की इस छोटी-सी बाल्कनी में इस छोटे-से फ़ोल्डिंग बेड पर सोया हुआ है – एक बार यह देख कर कि बेड का कैनवस उसी तरह तना हुआ है और उसके उचक कर बैठने से जो कम्पन हो रहा था, वह थम चुका है, हबीब निश्चिन्त होकर बाल्कनी की दीवार

से कन्धा लगा, कुछ तिरछा हो कर बैठ गया। परे जहाज़, सागर का पानी और आकाश की नीलिमा – सब कुछ एकाकार हो रहा था। लगभग एक ही पंक्ति में तैरती हुई नावों के सफ़ेद पालों को वह देखने लगा, जो इतनी दूर से नीले पानियों पर तैरते सफ़ेद राजहंस लग रहे थे।

देर तक वह चुपचाप उन पालों को देखता रहा – धीरे-धीरे वे दूर होते जा रहे थे – यहाँ तक कि वे न पाल रहे, न राजहंस, वरन नन्हीं-नन्हीं सफ़ेद बिन्दियाँ बन गये और देखते-देखते उसकी आँखें दुखने-सी लगीं।

तब उनसे नजर हटा कर उसने तट की ओर देखा। वहाँ दोपहर की अपेक्षा काफ़ी रौनक थी, लेकिन इसके बावजूद उसे वह कुछ लुटा-लुटा-सा, सूना-सूना-सा दिखायी दिया। बात यह थी कि समुद्र भाटे पर था। पानी तट से बहुत दूर चला गया था। दूर तक नंगी, गीली रेत नजर आ रही थी, जिसमें कहीं-कहीं पानी के गड्ढे बने हुए थे और रेतीले तट पर मनचले बच्चों के पैरों के निशान अस्त होते हुए सूरज की रोशनी में चमक रहे थे।

वह कुछ क्षण उन बच्चों को, उन पद-चिह्नों को, तट पर घूमते हुए उन तमाशाइयों को देखता रहा, फिर मुड़ कर गर्म चादर सीने तक ओढ़ कर लेट गया – उसे कुछ अजीब-से सुख की अनुभूति हुई। लगा जैसे गिरती हुई बर्फ़ के भयानक तूफ़ान में मीलों चल कर वह अत्यन्त सुखद सुकोमल मखमली बिस्तर पर आ लेटा हो। यह अनुभूति उसे पहले भी कई बार हुई थी – जब वह आवारगी की जिन्दगी से उकता कर अपने किसी मित्र के घर कुछ दिनों के लिए जा ठहरता था तो कुछ ऐसा ही सुख-आराम महसूस करता था – लेकिन इस समय का यह सुख-आराम तो पहले से कई गुना ज़्यादा था। उसे लगता था, जैसे अब उसे कभी सर्दी में बाहर न निकलना पड़ेगा, आँधी-पानी, भूख और अधनंगेपन का सामना न करना पड़ेगा – वह जीवन भर बड़े इत्मीनान से इस आरामदेह बिस्तर पर लेटा रहेगा।

तभी जब उसकी आँखें फिर बन्द होने लगी थीं और उसकी नीम-ग़नूदगी पर धुंधलके छाने लगे थे, उसे सरवर ने झकझोरा –

"तुम अभी तक सो रहे हो और हमें मिस नसरीन की सालगिरह की पार्टी में जाना है। उठो, जल्दी तैयार हो जाओ।"

"तुमने मुझे बताया ही नहीं।" कहता हुआ हबीब उचक कर उठा और फ़ोल्डिंग बेड फिर फ़ोल्ड होते-होते बचा।

१९४६

(उर्दू से अनूदित)

* *

परिशिष्ट

* *

इसके बाद क्या गुज़री, यह बताऊँ तो न जाने आप को कितने घण्टे वह सब सुनना पड़े। इतना समझ लीजिए कि हीरो बनने की तमन्ना अब भी है। वेतन हीरो का पाता हूँ, लेकिन एक्स्ट्रा कहाता हूँ। इसी उम्मीद पर जीता हूँ कि जैसे एक रेला पहले आया था, शायद फिर आ जाय और उसके बल पर मैं किनारे जा लगूँ। इसी उम्मीद पर चुप हूँ। दिल की दिल में रखता हूँ, वरना मैं क्या नहीं जानता और क्या नहीं कह सकता।

फ़िल्म-स्टूडियो में बीरबल

* *

यदि बीरबल ग्राज ज़िन्दा होते, उनको फ़िल्म-स्टूडियो की सैर करनी होती ग्रौर उसके ग्रन्दर की कार्य-प्रणाली को ग्रच्छी तरह जानना होता तो ग्राज भी उन्हें ग्रपनी उसी दानाई ग्रौर दानिशमन्दी से काम लेना होता, जिसका परिचय उन्होंने प्रायः ग्रकबर के दरबार में दिया था। बात यह है कि ग्राज का फ़िल्म-स्टूडियो किसी शाही दरबार ग्रौर उसका कण्ट्रोलर या मैनेजिंग डायरेक्टर या प्रोड्यूसर या फ़नान्सर किसी सम्राट से कम नहीं।

सबसे पहले तो बीरबल को इस ग्राधुनिक दरबार के दरबान ही से जूझना पड़ता। बीरबल बीरबल न होते ग्रौर घर से भागे हुए कोई युवक छात्र ग्रथवा कोई शौकीन-मिज़ाज फ़िल्मी परवाने होते ग्रौर बिना किसी सिफ़ारिश के ग्रपने प्रिय हीरो ग्रथवा हीरोइन को देखना चाहते तो दरबान उन्हें स्टूडियो के गेट पर ही रोक लेता।

'खो, तुम कौन ए?' पठान दरबान पूछता, 'किदर से ग्राया ए? किसको मिलने को माँगता ए?' ग्रौर जब उत्तर में वे कहते कि वे ग्रमुक हीरो या हीरोइन से मिलने ग्राये हैं तो उन्हें कुछ रूखे ग्रौर कर्कश स्वर में सुनना पड़ता, 'खो, तुम उसका क्या लगता ए? तुम्हारे पास उसका चीठी ए? परमिट ए?' ग्रौर जब जवाब में वे बग़लें झाँकने लगते तो पठान कहता, 'खो, इदर गर्दी मत करो, साब के ग्राने का टाइम ग्रो गया।' ग्रौर वह ग्रपनी लाठी पर हाथ रखता ग्रौर वे ग्रपने प्रिय हीरो ग्रथवा हीरोइन से मिलने की हसरत दिल में लिये हुए नौ-दो-ग्यारह हो जाते।



लेकिन बीरबल में ऐसी नासमझी की आशा नहीं की जा सकती। वे स्टूडियो के गेट पर जाने से पहले अपनी उसी चतुराई के बल पर मैनेजिंग डायरेक्टर, कण्ट्रोलर, सेक्रटरी, हीरो, हीरोइन, डायरेक्टर, असिस्टेण्ट डायरेक्टर, कैमरामैन या किसी छुटभैये से याराना गाँठ लेते। और कुछ नहीं तो ज्योतिषी बन बैठते और दरबान का हाथ देख कर उसकी किस्मत का हाल बताते और उसके हीरो बनने की भविष्यद्वाणी कर, आसानी से स्टूडियो में दाखिल हो जाते।

किसी दरबान या छुटभैये से दोस्ती गाँठ कर बीरबल फ़िल्म स्टूडियो की सैर चाहे कर लेते पर उसकी अन्तरंग कार्य प्रणाली की जान लेना उनके लिए मुश्किल होता। फ़िल्मी दुनिया में भाग्य इतनी जल्दी बनते-बिगड़ते हैं कि स्टूडियो के दरबान से ले कर कण्ट्रोलर ऑफ़ प्रोडक्शंस तक, सब को हाथ दिखाने का शौक रहता है और बीरबल किसी दरबान का हाथ देख कर स्टूडियो में जाने के बदले निश्चय ही किसी डायरेक्टर का हाथ देखते और उसके शीघ्र ही प्रोड्यूसर बनने की भविष्यद्वाणी कर, उसका विश्वास प्राप्त कर लेते और यूँ उसके साथ, बिना किसी परमिट के, दनदनाते हुए स्टूडियो में दाखिल हो जाते।

०

डायरेक्टर उन्हें सबसे पहले अपने बादशाह — कण्ट्रोलर ऑफ़ प्रोडक्शंस — के हुज़ूर में पेश करता और कुछ इन शब्दों में उनका परिचय देता, 'देखिए बैनर्जी (या मुकर्जी, चटर्जी, कमल दा, बिमल दा, अनिल दा या चुन्नी भाई, मुन्नो भाई, गिन्नी भाई — याने जिस नाम से स्टूडियो के सम्राट पुकारे जाते) किसे आपसे मिलाने लाया हूँ? ये हैं श्री बीरबल — अकबर के उस रत्न में और इनमें कोई अन्तर नहीं। वही चतुराई, वही बुद्धिमानी, वही हाज़िर-दिमाग़ी। गीत, डायलॉग, सिनारियो, म्यूज़िक — सबमें दक्ष हैं। मुश्किलें आसान कर सकते हैं, बिगड़ी बना सकते हैं।'

कण्ट्रोलर आश्चर्य से या उपेक्षा से, आँख उठा कर या बिना आँख उठाये — उनकी ओर नहीं — अपने डायरेक्टर की ओर देखता और आदेश देता कि इस अज़ुबा-ए-रोज़गार शख़्स को उनके दरबार में तत्काल मुलाज़िम रख लिया जाय। बाहर दरवाज़े पर खड़े हुए हम्माल (चपरासी) को आवाज़ पड़ती या घण्टी पर ज़ोर से हाथ मारा जाता और हम्माल जैसे उसकी आवाज़ के साथ खिंचा चला आता। उसे हुक्म मिलता कि सेक्रेटरी को सलाम बोलो। दूसरे क्षण सेक्रेटरी हाँफता हुआ हाज़िर होता और पाँच सौ, सात सौ या हज़ार रुपया मासिक पर जैसा भी उस वक्त स्टूडियो सम्राट का मूड होता, बीरबल को मुलाज़िम रख लिया जाता और बीरबल कण्ट्रोलर साहब के दरबारियों में शामिल हो जाते — क्योंकि फ़िल्मी-स्टूडियो में काम कम होता है और दरबारदारी ज़्यादा।

दरबार में बीरबल हों और मुल्ला दो प्याज़ा आदि उनके प्रतिद्वन्द्वी न हों, यह कैसे हो सकता है? पुराने दरबारों ही की तरह स्टूडियो के दरबार में भी किसी नये दरबारी के आते ही पुरानों के सिंहासन डोल जाते हैं और उसे उखाड़ने की कोशिशें शुरू हो जाती हैं। स्टूडियो के कहानी-लेखक जानते हैं कि किस मौके पर उनका प्रतिद्वन्द्वी उखड़ सकता है और वे बीरबल को किसी ऐसी ही परिस्थिति में ला फँसाते हैं।

जहाँ तक फ़िल्मी कहानी का सम्बन्ध है, एक ऐसा अवसर हीरो और हीरोइन की पहली भेंट होता है। सौ में से निन्यानबे प्रतिशत फ़िल्में क्योंकि आजकल रोमानी फ़ारमूले के अनुसार बनायी जाती हैं, जिनमें अक्सर हीरो या हीरोइन की प्रेम-कहानी ही रहती है, इसलिए कहानी में महत्वपूर्ण सीन हीरो और हीरोइन की पहली मुलाकात का होता है। नये लेखक (और पुराने भी) इस सीन पर बड़ा ज़ोर लगाते हैं। कई कोणों से उस मुलाकात के कई-कई वर्णन लिखे जाते हैं और काँपते हुए दिलों से फ़िल्मी बादशाह के फ़ैसले का इन्तज़ार किया जाता है।

लेकिन आस्तीनें चढ़ा कर, बार-बार कलम उठा कर, बाल नोच-नोच कर एक के बाद एक वर्णन लिखें, ऐसी मूर्खता की उम्मीद बीरबल से नहीं की जा सकती। बीरबल निश्चय ही दिमाग़ को घर छोड़ जाते (ताकि बवक्ते-ज़रूरत काम आये) और हल्के-फुल्के खाली दिमाग़ से दरबार में हाज़िरी देते। फ़िल्म-स्टूडियो में मेहनत करने वाले दिमाग़ की ज़रूरत नहीं, वहाँ तो हाज़िर दिमाग़ से काम चलता है और यह कहने की ज़रूरत नहीं कि इस चीज़ की बीरबल के पास कभी कमी नहीं रही।

जब हीरो और हीरोइन की पहली मुलाकात का एक के बाद एक वर्णन रद्द होता और कण्ट्रोलर या डायरेक्टर की 'तो भी न मानूं' जारी रहती तो बीरबल हँसते और कहते कि जहाँपनाह, अगर खादिम को मौका दिया जाय तो पाँच मिनट में एक बढ़िया वर्णन तैयार कर दे। बादशाह उन्हें बड़ी कृपा कर किस्मत आज़माई का मौका देते। बीरबल सबसे पहले अपने प्रतिद्वन्द्वियों के लिखे हुए नायक-नायिका की उस पहली मुलाकात के दृश्य पढ़ते और जानते कि किस तरह उन्हें पहली बार मिलाने में उन लोगों ने दिमाग़ी कलाबाज़ियाँ खायी हैं और कैसे मौलिकता के दावों के बावजूद उनके द्वारा लिखी हीरो और हीरोइन की मुलाकातें घिसी-पिटी, अमौलिक और घटिया हो गयी हैं —

● हीरोइन नहा कर कपड़े सुखा रही है कि अपने कमरे में किताब पढ़ते-पढ़ते हीरो की नज़र उस पर जा पड़ती है और उसका दिल धक-धक कर उठता है।

● हीरोइन साइकिल पर स्कूल या कॉलेज जा रही है कि हीरो की साइकिल उससे टकरा जाती है और बात तकरार से शुरू हो कर इनकार और इनकार से इकरार तक आ जाती है।

० हीरो और हीरोइन अपनी-अपनी कारों से आ रहे हैं। एक मोड़ पर दोनों की कारें आमने-सामने से आ कर टकराते हुए बचती हैं। कारें नहीं टकरातीं, पर दिल टकरा जाते हैं।

इन सब मुलाकातों को देख कर बीरबल मुस्काते हैं और उन्हें अति साधारण घोषित कर, एक-दो ऐसी मुलाकातों का खाका खींचते हैं कि बादशाह और दूसरे दरबारी कुर्सियों से उछल पड़ते हैं और बीरबल को इजाज़त देते हैं कि वे अपने प्रतिद्वन्द्वियों को एक-दो वर्णन लिखवायें। बीरबल लिखाते हैं :

● हीरोइन बहुत बढ़िया कार चलाती हुई जा रही है कि उसकी कार बिगड़ जाती है। हीरो अपनी बैलगाड़ी में मस्ती से गाता हुआ चला आ रहा है कि हीरोइन की बिगड़ी हुई कार को देख कर अपनी बैलगाड़ी रोक लेता है और हीरोइन की बिगड़ी हुई कार को ठीक करने के लिए अपनी सेवाएँ पेश करता है। सँवारने की कोशिश में वह उसे बिलकुल बिगाड़ देता है। हीरोइन बिगड़ती है, लेकिन वह बड़ा-सा मोटा रस्सा ले कर उसकी कार को अपने खटारे से बाँध लेता है। चाबुक घुमा कर टिटकारी मारता है। हीरोइन कुछ कदम तो तिनतिनाती हुई पैदल चलती है, लेकिन पैदल चलने की उसे आदत नहीं, वह हीरो की बग़ल में आ बैठती है, उसकी बलिष्ठ देह को प्यार की निगाहों से देखती है। ऐसे में दोनों की निगाहें मिल जाती हैं और फ़िल्म का पहला दोगाना शुरू होता है।

दूसरा वर्णन बीरबल कुछ यों लिखाते हैं :

● हीरोइन, जो बड़े ही अमीर बाप की बेटी है, अपने बँगले के पोर्च में बैठी हैं, अपने लिए एक बढ़िया कार का चुनाव कर रही है। बराबर ही मोढ़े पर उसका प्यारा एलसेशियन कुत्ता बैठा है। हीरोइन ने मन में धार रखा है कि जिस कार को उसका चहेता कुत्ता पसन्द करेगा, उसी को वह खरीदेगी। बँगले की गोलाकार सड़क पर कारों की कतार लगी है, एक-से-एक बढ़िया कार उनके सामने से हो कर गुजर रही है, लेकिन श्वान महोदय हैं कि बड़ी-बड़ी, चमचमाती, आरामदेह कारों को मुटर-मुटर तके जाते हैं, अपनी पसन्द या नापसन्द की सनद नहीं देते। सबसे पीछे हीरो अपनी, जैसे प्रागैतिहासिक काल की, बेकार साइलेन्सर और लुंजे मडगार्डों वाली खड़खड़ाती और दस ट्रकों से ज्यादा शोर मचाती खटारा-सी गाड़ी लिये आता है – हीरोइन से नहीं, उसके बाप से कार्यवश मिलने – और अचानक कुत्ता गले के पूरे जोर से अपनी पसन्द की घोषणा कर देता है। हीरोइन कार की कीमत पूछती है, हीरो बेचने से इनकार कर देता है और यों उनमें मधुरालाप शुरू हो जाता है।

यह कहने की जरूरत नहीं कि हीरो और हीरोइन की इस दिलचस्प मुलाकात से बीरबल अनायास ही अपने प्रतिद्वन्द्वी मुल्ला-दो-प्याज़ाओं के पाँव उखाड़ देते हैं।

जब फ़िल्मी कथाकार बीरबल को उखाड़ने में असफल रहते हैं तो गीतकार आगे बढ़ते हैं, लेकिन बीरबल की हाज़िर-दिमाग़ी के आगे वे भी परास्त हो जाते हैं। बादशाह चाहते हैं कि खुशी का एक गीत लिखा जाय। आसमान के तले हीरो-हीरोइन की दूसरी मुलाकात होती है और उन्मुक्त पक्षियों ऐसे दोनों चहचहा उठते हैं। स्टूडियो के दरबारी कवि लिख कर लाते हैं –

तुम मिलीं मुझे
मिला मुझे प्राण
धरती का धन-वैभव ही नहीं
यह तारों वाला आसमान।

गीतकार गा कर सुनाते हैं, म्यूज़िक डायरेक्टर ट्यून बनाता है, लेकिन बादशाह सिर हिला देते हैं कि बिलकुल ठस है – ठस और सपाट! और बीरबल की ओर देखते हैं कि उन्होंने कुछ लिखा है। बीरबल होंटों में मुस्कराते हैं और अर्ज करते हैं कि जहाँपनाह, जान की अमान पाऊँ तो इसी गीत को ठीक करके दिखा दूँ। सिर्फ़ दो-एक पत्ते लगाने की जरूरत है।

"पत्ते?" बादशाह हैरत से मुँह बा देते हैं।

"इस वक्त यह गीत, जहाँपनाह, एक लुंज-पुंज पौदे-सा है," बीरबल कहते हैं, "इसमें दो-एक पत्ते लगा देता हूँ, देखिए कैसे लहराने लगता है।"

और वे म्यूज़िक-रूम में जा कर गीतकार को फिर एक बार गाने के लिए कहते हैं। गीतकार गाता है। बीरबल पत्ते लगा देते हैं और गीतकार और म्यूज़िक डायरेक्टर से उसे कण्ट्रोलर के हुज़ूर में गा कर सुनाने को कहते हैं। दोनों उसी गीत को फिर सुनाते हैं। बादशाह और सारे दरबारी उछल पड़ते हैं और बादशाह बीरबल की पीठ ठोंकते हुए जागीर के रूप में पचास रुपये मासिक तरक्की देते हैं।

बीरबल के संशोधन के बाद गीत की सूरत कुछ यों बन जाती है :

तुम मिलीं मुझे
डडाँ-डडाँ-डडाँ
मिला मुझे प्राण
डडाँ-डडाँ-डडाँ-डडाँ-डडाँ-डडाँ
धरती का वैभव ही तो नहीं
हाय ही तो नहीं
हाय ही तो नहीं
यह तारों वाला आसमान
डडाँ-डडाँ-डडाँ

और फ़िल्म के रिलीज़ होते ही कॉलेज के छोकरों से ले कर मोटर-खटारे वालों तक की ज़बान पर 'हाय ही तो नहीं,' 'हाय ही तो नहीं' और 'डडाँ, डडाँ, डडाँ,' गूंज उठता है और स्टूडियो के दरबार में बीरबल का सिक्का जम जाता है।

लेकिन बीरबल कहानी और गीतों के क्षेत्रों ही में प्रतिभा दिखा कर रह जाते, यह कैसे सम्भव है। स्टूडियो में तो कई ऐसे मौके आते, जब बीरबल की हाज़िर-दिमाग़ी की ज़रूरत पड़ती।

डायरेक्टर कहीं से नये सितारे (नयी तारिका) की खोज कर लाते हैं। स्टूडियो के बादशाह उसे बुला कर देखते हैं और उस नीम निगाह में ही उसके यौवन और उस यौवन से बल-बूते पर फ़िल्म, स्टूडियो और अपनी अवकाश की घड़ियों के भविष्य का अन्दाज़ा कर लेते हैं। कॉण्ट्रैक्ट हो जाता है, फ़िल्म का मुहूर्त हो जाता है, नयी तारिका के फ़ोटो पत्र-पत्रिकाओं में छपते हैं और स्टूडियो का प्रचार-विभाग बीस तरीकों से नयी तारिका और नयी फ़िल्म के बारे में फ़िल्मी जनता की उत्सुकता जगाने में तल्लीन हो जाता है। फ़िल्म धड़ाधड़ बनने लगती है, लेकिन उस वक्त जब वह आधे के ज़्यादा बन चुकती है, एक दिन अचानक धूमकेतु-सा नये सितारे का बाप या भाई, चाचा या मामा स्टूडियो के आकाश पर नमूदार होता है। पता चलता है कि यह नया सितारा तो किसी और सय्यारे[1] के साथ घर से भाग आया है। दोनों की गिरफ़्तारी के वारण्ट जारी है और वह बाप या भाई, चाचा या मामा, फ़िल्म की नाव बीच-मँझधार छोड़ कर, तत्काल उसे साथ ले जायगा।

ऐसे नाज़ुक मौके पर, जब फ़िल्म का और उसके साथ ही स्टूडियो, उसके बादशाह और दरबारियों का भविष्य संकट में पड़ जाता है और सारे दरबारी इस संकट को दूर करने में असफल रहते हैं तो बीरबल की बुलवाहट होती है कि बादशाह पर आये हुए इस संकट को अपनी चतुराई से दूर करें। करबद्ध बीरबल कहते — जहाँपनाह, बन्दा सिर्फ़ एक हफ़्ते की मुहलत माँगता है। इस अर्से में बादशाहत पर आयी हुई विपत्ति को न टाल दे तो सिर-मूंछे मुँड़वा कर स्टूडियो से निकल जायगा।

स्टूडियो-सम्राट 'तथास्तु' कहते हैं और बीरबल स्टूडियो से ग़ायब हो जाते हैं। सात दिन तक उन्हें फिर कोई नहीं देखता। सातवें दिन स्टूडियो-वासियों के आश्चर्य की सीमा नहीं रहती, जब वे देखते हैं कि स्टूडियो जाग उठा है, कारीगर इधर-से-उधर भाग रहे हैं, डायरेक्टर सेट पर चिल्ला रहे हैं, फ़िल्म की शूटिंग फिर शुरू हो गयी है और वह नया सितारा (तारिका) ही नहीं,

1. घूमने वाला तारा

बल्कि वह धूमकेतु-स्वरूप बाप या भाई, चाचा या मामा भी दुम कटा कर स्टूडियो में टिमटिमा रहा है।

जब इस काया-पलट का हाल जानने की कोशिश करने वाले छानबीन करते हैं तो उन्हें पता चलता है कि स्टूडियो से ग़ायब होते ही बीरबल सीधे उस नयी तारिका के शहर पहुँचे। पूछ-ताछ कर उन्होंने उसके कुटुम्ब के बेरोज़गार लोगों का पता लगाया और सब को स्टूडियो में नौकरी दिलाने का वादा कर ले आये। वापस आ कर उन्होंने स्टूडियो के कथाकार को बुलवाया, कहानी में कुछ ज़रूरी परिवर्तन करवाये और उन बेकार रिश्तेदारों को उनमें फ़िट कर दिया। जब धूमकेतु-समान उदय होने वाले उस बाप या भाई, चाचा या मामा ने देखा कि सभी उस हमाम में नहा रहे हैं और उन्हें भी दो डुबकियाँ लगाने की दावत दे रहे हैं तो क्रोध और संकोच को छोड़ कर वे भी उतर पड़े।

°

यह कहने की ज़रूरत नहीं कि इसके बाद बीरबल फ़िल्मी बादशाह के मुसाहिबे-ख़ास हो जाते हैं और तरक्की के रूप में उन्हें एक और जागीर मिल जाती है।

✻ ✻

है कुछ ऐसी बात जो चुप हूँ...

* *

बात कर नहीं ग्राती ? बात तो ऐसी कर ग्राती है कि एक बार शुरू कर दूँ तो दफ़्तर-के-दफ़्तर खोल के रख दूँ, पर ग्राप इसे दिन भर स्टूडियो में बैठे मक्खियाँ मारने ग्रौर बेकार वक्त में कड़वी सिंगल चाय के कप गले में उँडेलने वाले एक एकस्ट्रा की महज़ डींग समझेंगे।

ग्राज से वर्षों पार, जब कॉलेज के पहले साल की याद करता हूँ तो हँसी भी ग्राती है ग्रौर दुख भी होता है। इस दुनिया के बारे में, जिसकी ग्रब हर परत मैं देख चुका हूँ, कैसे रंगीन सपने मन में झिलमिलाया करते थे....कैसे ग्ररमान....कैसी ग्राकांक्षाएँ....फ़िल्म के रजत पर्दे पर नायक के रूप में प्रकट हो कर ग्रपने चाहने वाले युवकों की ईर्ष्या का कारण बनने ग्रौर हज़ारों युवतियों के मानस-पट पर ग्रपनी तस्वीर ग्रंकित देखने की कैसी ग्रारज़ुएँ....कैसी हसरतें मन में उन दिनों तड़पा करती थीं ? कॉलेज के उस पहले वर्ष में, जब फ़र्स्ट इयर का छात्र 'फ़ूल' (मूर्ख) कहलाता है, मैं सचमुच मूर्ख बन गया।

मैट्रिक हो में था, जब पिता जी का देहान्त हो गया। दस हज़ार का बीमा उन्होंने करा रखा था, लेकिन मरने के पहले वे काफ़ी बीमार रहे थे। दो-तीन हज़ार का कर्ज सिर पर था। जब बीमे की रकम मिली तो माँ ने बाकी रुपया बैंक में जमा कर दिया। कर्ज चुकाने के लिए तीन हज़ार रुपया घर में रख लिया। दो-एक पड़ोसियों का रुपया चुक भी गया, लेकिन तो भी हज़ार-डेढ़-हज़ार

'है कुछ ऐसी बात जो चुप हूँ, वरना क्या बात कर नहीं ग्राती' – ग़ालिब

रुपया ग्रन्दर की कोठरी में छोटी-सी ग्रालमारी में रखा था। मैंने रुपया उठाया ग्रौर बम्बई का टिकट ले कर ग्रपने चिर-दिन के पाले सपनों को सच कर दिखाने के लिए चल पड़ा। फ़र्स्ट इयर का मूरख युवक, जेब में डेढ़ हज़ार रुपया ग्रौर बम्बई शहर, जहाँ के चालीस प्रतिशत लोग कुछ काम नहीं करते, केवल बुद्धि के बल पर जीते हैं।

बम्बई के पहले कुछ दिन सदा याद के पर्दे पर ग्रंकित रहेंगे। उन चन्द दिनों में क्या नहीं देखा ? ट्रामें, टैक्सियाँ, सिनेमा, थियेटर, सरकस ग्रौर सबसे बड़ा तमाशा – रेस ! दो सौ रुपया तो एक ही दिन रेस में फुंक गया। ग्रगर बम्बई में ग्राने के ग्रपने उद्देश्य की याद कहीं मानस के उन धुँधलकों में टिमटिमाती न रहती, जो बम्बई के ज़ोरदार घुमाव ने दिमाग़ में छा दिये थे, तो शायद सारा रुपया रेस में ही उड़ जाता। क्योंकि रेस तो ऐसा कुग्राँ है, जिसमें दो सौ क्या, दो लाख एक दिन में समा जायँ ग्रौर बुलबुला तक न उठे। मैं ग्राया था फ़िल्म में हीरो बनने के लिए ग्रौर किसी ऐसे मित्र की तलाश में था, जो मुझे उस दुनिया का परिचय करा दे। सौभाग्य से होटल ही में एक ऐसे युवक से मुलाकात भी हो गयी। उसके एक मित्र के मामा पूना में डायरेक्टर थे, उसे मेरी इच्छा का पता चला तो उसने कहा, "यह काम कुछ मुश्किल नहीं, तुम्हें पूना ले जा कर उसके मामा से मिला देंगे ! बस एक बार मुलाकात हो जाय ग्रौर वे एक-ग्राध रील में तुम्हारा कैमरा ग्रौर साउण्ड-टेस्ट ले लें तो फिर कौन तुम्हें हीरो बनने से रोक सकता है ? ऐसी 'बॉडी' ग्रौर ऐसा 'फ़िल्म-फ़ेस' है तुम्हारा !"

"स्कूल में कई बार मैंने नाटकों में पार्ट किया है," मैंने कहा, "वे एक बार टेस्ट ले कर देखें तो ऐक्शन तो मैं वह दूँगा कि वे ग्रश-ग्रश कर उठें।"

"वही तो," मेरा मित्र बोला, "लेकिन पहले भांजे को राज़ी करना है, फिर मामा को। भांजा एक बार पूना चल कर तुम्हें ग्रपने मामा से मिलाने को तैयार हो जाय तो बस बाज़ी वह जीती पड़ी है।"

'टेक' ग्रौर 'कैमरा-टेस्ट' की बात मैं समझ गया था। कैमरे में शक्ल ग्रौर माइक में ग्रावाज कैसी ग्राती है, डायरेक्टर के लिए यह जानना बड़ा ज़रूरी है। शक्ल ग्रच्छी हुई, लेकिन ग्रावाज़ 'साउण्ड ट्रैक' से निकल कर भद्दी ग्रौर भोंडी ग्रायी तो रखिए खूबसूरत शक्ल ग्रौर ग्रच्छी बॉडी को ग्रपने घर ! खामोश फ़िल्मों के जमाने की सुलोचना जैसी हीरोइन ग्रौर जमशेद जी-जैसे तनावर हीरो बोलपट के ग्राते ही मात खा गये। क्योंकि शक्ल यद्यपि उनकी लाजवाब थी, पर ग्रावाज़ बेहद भोंडी थी;

तब सोचा कि ग्रपने उस होटल वाले मित्र के उन दोस्त को खुश किया जाय। मित्र की सलाह पर उसे दो-तीन बार चाय पिलायी, लेकिन पता चला कि चाय को वह पेय ही नहीं समझता, कुछ ज़्यादा गर्म चीज़ हो तो बात बने।

तब उन दोनों को खुश करके अपना अभीष्ट पाने के प्रयास में मैंने वह तरल चीज़ भी चखी, जिसके बारे में सुन रखा था कि 'छुटती नहीं है मुँह से यह काफ़िर लगी हुई।' और सच मानिए, शायर ने ग़लत नहीं कहा, क्योंकि अच्छी-भली लग गयी।

रोज़ रात को जलसा रहने लगा। रुपया काफ़ी खत्म हो गया, लेकिन अभी तक भांजे साहब ने मामा से परिचय कराना तो दूर रहा, उनकी शक्ल तक नहीं दिखायी। तब अपने मित्र के कहने पर एक दिन मैंने भांजे साहब से, क्योंकि वे मुझसे काफ़ी खुल गये थे, अपनी इच्छा प्रकट की। मित्र ने भी रद्दा जमाया। मेरी ऐक्टिंग, मेरे गले और मेरी बॉडी की प्रशंसा की और कहा कि एक बार यदि मेरा कैमरा-टेस्ट हो जाय तो मेरे हीरो बनने के रास्ते में कोई बाधा नहीं हो सकती।

मेरा खयाल था कि मेरी इच्छा सुनते ही मामा का वह भांजा झट मेरे साथ पूना की गाड़ी पर जा बैठेगा। इतने दिन मेरे पैसे पर उसने गुलछर्रे उड़ाये थे। लेकिन नहीं, ऐसी कोई बात नहीं हुई। बड़े इत्मीनान से उसने कहा कि यदि उसे पचास रुपये दिये जायँ तो वह मामा से मिलायेगा और पचास और दिये जायँ तो कैमरा-टेस्ट का प्रबन्ध करेगा। मेरे लगभग सात-आठ सौ रुपये उन पन्द्रह-बीस दिनों में खर्च हो चुके थे, पाँच-छै सौ रुपये बचे थे। सौ-डेढ़ सौ रुपये का नुस्खा उसने बता दिया, लेकिन मैं चुप रहा। बोला कुछ नहीं। हाँ, मेरे होटल वाले मित्र को बड़ा क्रोध आया। उसने उसे डाँटा। बड़ी खिट-खिट हुई। आखिर वह पच्चीस रुपये उस समय, पच्चीस मामा से मिलाने पर और पचास टेस्ट करा देने और काम बनवा देने के बाद लेने को तैयार हो गया। मुझे बड़ा बुरा लगा, क्योंकि मैं उसे अपना मित्र समझने लगा था।

खैर साहब, हम तीनों पूना के लिए 'दक्खिन क्वीन' में सवार हुए। होटल वाले मित्र को साथ लेना पड़ा, क्योंकि बिना उसके तो कुछ हो ही न सकता था। ट्रेन फ़र्राटे भरती पूना की ओर चली और साथ ही मेरी कल्पना 'दक्खिन क्वीन' से भी तेज़ फ़र्राटे भरती उड़ चली। मुझे लगा कि मंज़िल अब बहुत दूर नहीं। माइक और साउण्ड-टेस्ट हुआ कि मैं हीरो बना। पूना पहुँच कर स्टेशन के पास ही एक होटल में टिके। नाश्ता-वाश्ता कर के हम स्टूडियो को चले। गेट पर चौकीदार ने रोक दिया। तब मामा के उस भांजे ने एक चिट्ठी लिखी। कुछ देर बाद उत्तर आ गया। हमें बाहर ही रोक कर वह अन्दर गया। कोई पन्द्रह मिनट बाद वापस आया तो बोला, "मामा जी स्टूडियो में व्यस्त हैं, फ़िल्म की शूटिंग हो रही है। कल सुबह मिलने का टाइम उन्होंने दिया है।"

मैंने कहा, "हमें शूटिंग ही दिखा दो।"

"तुमने पहले कहा होता तो मैं तय कर आता, लेकिन अब कल ही दिखा दूँगा। बात पक्की हुई समझो।"

•

रात को मित्र ने सुझाया कि भांजे को खुश रखना चाहिए, ताकि यह टेस्ट ही न कराये, बल्कि तुम्हें 'हीरो' का कॉण्ट्रैक्ट भी दिला दे। बात उसकी ठीक थी। पूरी बोतल मेज़ पर आ गयी। वह खत्म हुई तो दूसरी आयी। बस इतना ही याद है और कुछ याद नहीं। सुबह उठा तो देखा कि कमरा खाली है। बस जो कपड़े तन पर हैं, वही हैं, बाकी सब कुछ ग़ायब है।

•

इसके बाद क्या गुज़री, क्या बताऊँ। बड़ी लम्बी दास्तान है। होटल वाले का जितना बिल था, दो महीने उसके यहाँ बैरे की नौकरी कर के चुकाया, फिर उन मामा जी से जा कर उनके घर मिला। उनको अपनी दुख-गाथा सुनायी तो मालूम हुआ कि इस नाम का तो उनका कोई भांजा ही नहीं। लेकिन मेरी दास्तान सुन कर वे प्रभावित ज़रूर हुए। खास तौर पर जब उन्होंने सुना कि उस मुसीबत में, जब मेरा सब कुछ लुट गया था, मेरे स्वाभिमान को यह गवारा न हुआ कि मैं घर चिट्ठी लिखूँ और रुपये मँगाऊँ; कि मैं घर वापस नहीं गया और मैंने काम करके होटल का बिल चुका दिया। वे पसीज गये और उन्होंने मुझे वचन दिया कि वे निश्चय ही मेरी सहायता करेंगे।

मैं उनके इस वादे से कुछ ऐसा अभिभूत हुआ कि चाहा उनके चरणों में गिर पड़ूँ। लेकिन वैसा कुछ उन्होंने मुझे नहीं करने दिया। हाँ, उनका नौकर उन दिनों भाग गया था और उन्हें बड़ा कष्ट था। जब मैंने उनसे कहा कि मुझे वे ज़रूर अपने चरणों में जगह दे कर सेवा का अवसर दें, तो उन्होंने इतनी कृपा की कि अपने उस नौकर की जगह मुझे दे दी। नौकर वाली कोठरी मुझे रहने को मिल गयी और खाने की कमी न रही।

डायरेक्टर साहब का खाना तो एक आया पकाती थी, मैं ऊपर का काम देखता था। रहते मलाड में थे, स्टूडियो गोरे-गाँव में था। दोपहर को उनका खाना ले जाता। कई बार शूटिंग चल रही होती, मैं भी अन्दर चला जाता। तब दिल की धड़कन कैसे तेज़ हो जाती और कैसे सपने आँखों में लहरा जाते, यह क्या बताऊँ? वह हीरोइन, जिसे रजत-पट पर देखता था, अब आँखों के सामने सशरीर स्टूडियो में काम करती थी। देखते-देखते मैं दिवा-स्वप्नों में खो जाता, स्वयं हीरो की जगह ले लेता और हीरोइन की बाँह-में-बाँह डाले डांस करता। इसके बाद प्रायः मैं डायरेक्टर साहब के काम में अपनी निष्ठा को बढ़ा देता। लेकिन इस निष्ठा का फल किसी रोल या फ़िल्मी भूमिका की सूरत में मुझे नहीं मिला। हाँ, मैं बैरे से उलटी तरक्की कर उनका खानसामा बन गया।

हुआ यह कि जाने किस बात पर नाराज हो कर उनकी आया भाग गयी। डायरेक्टर साहब और उनकी बीवी बड़े परेशान हुए। तब सरसरी तौर पर उन्होंने कहा कि जब तक नयी आया या खानसामा नहीं आता, मैं खाना पकाने में ज़रा उनकी बीवी की मदद कर दिया करूँ। जब मैंने कहा कि मैंने खाना कभी नहीं पकाया तो उन्होंने कहा कि सीख लो। फ़िल्म में काम करने के लिए हर तरह का तजुर्बा होना ज़रूरी है। मन तो बहुत खिन्न था, पर मैं किचन में चला गया। दूसरे दिन उन्होंने कहा कि भीड़ का एक दृश्य है, यूँ तो बाहर से एक्स्ट्रा आयेंगे, लेकिन उनकी संख्या कम है। मैं भी पहुँच जाऊँ तो वे मुझे भी शामिल कर लेंगे।

मेरी खुशी का वार-पार न रहा। मैंने उस दिन जी-जान से रसोई का काम किया और समय पर स्टूडियो जा पहुँचा। रात की शूटिंग थी। दस बजे के लगभग शुरू हुई। डायरेक्टर साहब ने मुझे भीड़ के आगे खड़ा किया और दूसरे दिन प्रोजेक्शन-रूम में बहाने से मुझे रात के शॉट भी दिखा दिये। अपने चेहरे पर मुझे वह सब जोश-ख़रोश बिलकुल दिखायी न दिया, जिसे डायरेक्टर साहब अगली पंक्ति के आदमियों में देखना चाहते थे। बात असल में यह थी कि मैं निरन्तर यह सोचता रहा था कि डायरेक्टर साहब बोलने वाला पार्ट मुझे देते तो कैसा रहता! और इसी सोच में जोश के वे भाव मेरे चेहरे से ग़ायब हो गये थे। लेकिन उस घबराहट और परेशानी के बावजूद भीड़ की अगली पंक्ति में अपने आप को देख कर मुझे जितनी खुशी हुई, वह फिर कभी नसीब नहीं हुई। मैं इतना प्रसन्न हुआ कि मैंने डायरेक्टर साहब को खुश करने के लिए जी-जान से मेहनत करके रसोई का काम सीख लिया।

लेकिन नतीजा यह निकला कि वह दिन सो आज का दिन, डायरेक्टर साहब ने फिर कभी मूक अभिनय का वह अवसर भी मुझे नहीं दिया। आया फिर आयी नहीं और मैं बाकायदा उनका खानसामा बन गया।

जब छै महीने इसी तरह बीत गये, मैं खानसामा बना रहा और स्टूडियो खाना आदि ले जाने के लिए डायरेक्टर साहब ने एक और छोकरा फाँस लिया तो मैंने फ़ैसला कर लिया कि उनके चंगुल से निकल जाऊँगा। खानसामागीरी तो आ ही गयी थी और बम्बई में अच्छा खानसामा दुर्लभ है और मैं अपनी वकअत जान गया था और यह भी जान गया था कि डायरेक्टर साहब स्टूडियो की कैण्टीन में बैठ कर खाना खाते समय मेरे खाने की बड़ी प्रशंसा कर चुके हैं, हीरोइन को खिला चुके हैं और वह भी तारीफ़ कर चुकी है। इसलिए जब हीरोइन का खानसामा भागा तो मैंने उसके यहाँ नौकरी कर ली।

स्टूडियो में जब मैं हीरोइन का खाना ले कर गया तो डायरेक्टर साहब बड़े गुस्से में आये। मुझे बुला कर उन्होंने पहले डाँटा, फिर प्यार किया, फिर बड़े-

बड़े सब्ज़-बाग़ दिखाये। फिर धमकी दी कि वे हीरोइन को मजबूर कर देंगे कि मुझे घर से निकाल दे। लेकिन हीरोइन प्रोड्यूसर की चहेती थी और डायरेक्टर साहब उसके सामने भीगी बिल्ली बन जाते थे और मैं उससे सारी बात कह चुका था, इसलिए जब मैंने उससे डायरेक्टर की धमकी का ज़िक्र किया तो उसने कहा, "तुम परवाह न करो। वह तुम्हें निकालने को कहता है, मैं चाहूँगी तो तुम्हें इसी स्टूडियो में डायरेक्टर बना दूँगी।"

डायरेक्टर....मैं क्षण भर तक मुँह बाये स्तम्भित-सा खड़ा रह गया, क्योंकि बड़े-से-बड़ा हीरो भी डायरेक्टर बनने के सपने लेता है और मैं तो हीरो और ऐक्टर दूर रहा, अभी एक्स्ट्रा भी न था। लेकिन वह सच कहती थी। प्रोड्यूसर उसकी मुट्ठी में था। वह चाहती तो क्या न कर सकती? मैंने उसकी बड़ी सेवा की। कुछ लालच से नहीं, सच कहता हूँ, मैं तो उसकी एक झलक देखने के लिए ज़िन्दगी दे देता और यहाँ हर वक्त वह मेरी आँखों के सामने थी। मैं उसे नाश्ता देता था, चाय पिलाता था, खाना खिलाता था। एक दिन जब उसका सिर दर्द कर रहा था तो मैंने उसका सिर तक दबाया....अब क्या बताऊँ, वह रहती तो मैं हीरो छोड़, डायरेक्टर छोड़, प्राड्यूसर हो जाता। अपने वादे की वह पक्की थी। खुश हो जाती तो क्या न दे देती। उसने मुझे अपनी कम्पनी में ढाई सौ रुपये पर ऐक्टर (हीरो) भरती करा दिया था।

"तुम सब्र करो," उसने कहा, "अगली फ़िल्म में तुम मेरे हीरो होगे।"

....लेकिन तभी कम्पनी का यूनिट एक निकट की रियासत में गया। असल में उन दिनों जो फ़िल्म बन रही थी, उसमें हाथियों की ज़रूरत थी। प्रोड्यूसर साहब हीरोइन को साथ ले कर राजा से मिले थे। उन्होंने अपने हाथीखाने को काम में लाने की आज्ञा दे दी थी। कम्पनी का एक यूनिट रियायत में गया। अस्थायी स्टूडियो बनाया गया। आज़ादी के पहले का ज़माना। राजा सचमुच के राजा थे। जवान थे, नये-नये गद्दी पर बैठे थे। एक दिन सोने-रूपे से लदे हाथी पर चढ़ कर शूटिंग देखने आये। तब जाने हीरोइन को क्या हुआ, महाराज साहब का वैभव अथवा हाथी पर बैठे उनकी छवि उसे कैसी भा गयी कि वह अपनी ख्याति, धन-दौलत और कैरियर पर लात मार कर, अपने लाखों चाहने वालों को तड़पता छोड़, उन महाराजा के साथ ही चली गयी। कम्पनी की फ़िल्म धरी-की-धरी रह गयी। प्रोड्यूसर साहब ने झुँझला कर नोटिस दिया तो महाराजा ने एक ही चेक में कम्पनी का सारा खसारा भर दिया....और इसे कहते हैं:

किस्मत की खूबी देखिए टूटी कहाँ कमन्द

०

इसके बाद क्या गुज़री ? यह बताऊँ तो न जाने आपको कितने घण्टे वह सब सुनना पड़े। इतना समझ लीजिए कि हीरो बनने की तमन्ना अब भी है। वेतन हीरो का पाता हूँ, लेकिन एक्स्ट्रा कहाता हूँ। इसी उम्मीद पर जीता हूँ कि जैसे एक रेला पहले आया था, शायद फिर आ जाय और उनके बल पर मैं किनारे जा लगूँ। इसी उम्मीद पर चुप हूँ। दिल की दिल में रखता हूँ, वरना मैं क्या नहीं जानता और क्या नहीं कह सकता !

✻✻

फिल्मों में हास्य

✻✻

हास्य ज़िन्दगी के लिए कितना ज़रूरी है, इसे तभी जान सकते हैं, जब हम इसके बिना ज़िन्दगी की कल्पना करें। कल्पना करें कि हास्य-रस हमारे जीवन में से एकदम निकल गया है। शृंगार भी है, वीर भी है, रौद्र भी है, करुणा भी है, वीभत्स भी है, पर ज़िन्दगी में हास्य-रस नहीं है — हम न मुस्कराते हैं, न हँसते हैं, न ठहाका लगाते हैं; बस, चुपचाप, अपनी धुन में मस्त, अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं और महत्वाकांक्षाओं के पंखों पर उड़े चले जाते हैं।

वह उड़ान, मुझे लगता है, उस वायुयान की उड़ान-सी है, जो शहरों, मैदानों, रेगिस्तानों, जंगलों, रंगा-रंग घाटियों और बर्फ़ीली चोटियों पर उड़ता चला जाय, पर जिसे नीचे उतर कर सुस्ताने की आज्ञा न हो। उसे, ऊपर-ही-ऊपर, किसी दूसरे वायुयान द्वारा पेट्रोल पहुँचा दिया जाय, तो भी, वह समय से पहले गिर कर चकनाचूर हो जायगा। निरन्तर घर्षण से उसके पुर्ज़े थक कर समय से पहले घिस जायेंगे। या फिर, हास्य के बिना जीवन उस बड़े-से हॉल-सा है, जिसमें खूब रोशनी हो और ऐश-आराम के सारे सामान हों — सब कुछ हो, पर हवा न हो। उस भयानक घुटन में जैसे दम घुट-घुट जाय और हर दस मिनट बाद, बाहर गैलरी में जा कर हवा को अपने सीनों में भर लेने का मन हो।

इस विशाल जीवन के जिस अंग पर भी दृष्टि डालें, हम देखेंगे, कि जीवन की होड़ में लगे मानव हँस-हँसा कर ताज़ा हवा को अपने सीनों में भर लेते हैं, और ज़िन्दगी की उबाहट-भरी घुटन को दूर

कर लेते हैं। कल-कारखानों में पिसते, दफ़्तरों की फ़ाइलों से जूझते, बसों, ट्रामों, रिक्शाओं, ताँगों, गाड़ियों को ठेलते, दुकानों में दिन-दिन भर बैठे ग्राहकों से माथा-पच्ची करते इन्सान गप्पों, चुटकुलों, स्थूल या सूक्ष्म, फूहड़ अथवा शिष्ट हास्य से मनोरंजन का सामान जुटा कर ताज़ा-दम हो लेते हैं।

फ़िल्मों में हास्य-रस का स्थान इसीलिए महत्वपूर्ण है, कि ज़िन्दगी के हर कदम पर इसका महत्व है। फ़िल्में भी, साहित्य और रंगमंच की तरह, जीवन में मनोरंजन का (शिक्षा और ज्ञान का गौण रूप में) महत्वपूर्ण साधन हैं। आम आदमी जब कथा-कहानी पढ़ता है, थियेटर में बैठा कोई नृत्य या नाटक देखता है, अथवा सिनेमा-हॉल में कोई फ़िल्म देखने जाता है, तो वह ज्ञान की प्राप्ति के लिए ऐसा नहीं करता। वह मनोरंजन चाहता है। मनोरंजन द्वारा यदि उसे ज्ञान की उपलब्धि हो जाय, तो उसे आपत्ति नहीं होती; पर मनोरंजन के बदले सूखा ज्ञान उसे ऊबा देता है। उस बड़े घुटन-भरे हॉल से आदमी उठ कर जब गैलरी पर जाय, और उसे वहाँ भी उमस मिले, तो जैसे वह उकता और झल्ला जायेगा — इसी तरह, ज़िन्दगी की घुटन से भाग कर जब आदमी फ़िल्म देखने आता है, और वहाँ भी उसे ऊबाहट मिलती है, तो उसका मन खिन्न हो उठता है, झल्ला जाता है।

यही कारण है, कि पुराने नाटककार अपने नाटकों में विदूषक को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान देते थे। नाटक के गम्भीर कथानक में शिष्ट हास्य की फुलझड़ियाँ निरन्तर छूटती रहती थीं। हमारे यहाँ जब नाटक की परम्परा टूटी, पारसी थियेटर का युग आया, तब भी नाटकों में हास्य का स्थान बदस्तूर रहा। अच्छे नाटकों में ब्राह्मणों के पेटूपन, बनियों की सूद-खोरी, राजाओं की मूढ़ता, वैद्यों और डॉक्टरों की सनकों को ले कर उपादेय रूप से हास्य प्रस्तुत किया जाता रहा।

उन दिनों, नाटक लम्बे होते थे। दो-दो कहानियाँ — एक गम्भीर, दूसरी हास्य-भरी — साथ-साथ चलती थीं और लोग ख़ूब हँसते थे। पर रंगमंच का स्थान फ़िल्म ने ले लिया। दो-ढाई घण्टों में फ़िल्में जनता का मनोरंजन करने लगीं। पाँच-पाँच घण्टे के नाटकों का समय न रहा। दो-ढाई घण्टों में, दो-तरह के कथानकों को निभाना कठिन हो गया। पर हास्य का स्थान फ़िल्म में उतना ही महत्वपूर्ण रहा। सफल निर्देशक सदा इस बात का प्रयास करता है कि फ़िल्म देखने वालों को जहाँ नाच-गाने मिलें, वहाँ दो-चार अवसर खुल कर ठहाका लगाने के भी मिल जायें।

हमारे यहाँ यद्यपि फ़िल्म-व्यवसाय बहुत बड़ा व्यवसाय है, पर कई कारणों से हमारी फ़िल्मों का स्तर अभी उठ नहीं पाया है। अच्छी सेटिंग मिल जायेंगी, अच्छी फ़ोटोग्राफ़ी मिल जायेगी, अच्छे अभिनेता भी मिल जायेंगे, पर अच्छी फ़िल्में उँगलियों पर गिनी जा सकेंगी। ऐसा क्यों है? यद्यपि मैं इस विषय

पर बहुत कुछ कहना चाहता हूँ, विशेषकर उस समय, जब मैं बम्बई की एक प्रख्यात फ़िल्म कम्पनी में दो वर्ष रह कर, वहीं के हर विभाग ही को नहीं, बल्कि दूसरी फ़िल्म कम्पनियों और वहाँ के जीवन को भी अच्छी तरह देख आया हूँ; और कहने को भी मेरे पास बहुत कुछ है, लेकिन वर्तमान विषय से दूर हट जाने के भय से, मैं वह सब कहने का लोभ सम्वरण करूँगा।

जहाँ तक हास्य का सम्बन्ध है, मुझे यह कहने के लिए क्षमा किया जाय, कि हमारी फ़िल्मों के हास्य का स्तर फ़िल्मों के आम स्तर से ऊँचा नहीं। हास्य-रस की फ़िल्मों की माँग कितनी है, इसका अन्दाजा 'शारदा', 'नमस्ते,' 'सगाई', 'पोस्ती' 'अलबेला,' 'पिलपिली साहब', 'चार सौ-बीस', 'दास्ताँ,' इत्यादि हास्य-रस प्रधान फ़िल्मों की सफलता को देख कर लगाया जा सकता है। नृत्य-गान के बाद भारतीय फ़िल्म की सफलता का आधार हास्य है। इसीलिए 'फ़िल्मों में हास्य' का विषय महत्व प्राप्त कर लेता है और हमें फ़िल्मों के हास्य को हर पहलू से देखने पर विवश करता है। यह विषय इतना बड़ा है, कि इस पर एक पुस्तक लिखी जा सकती है। मैं इस लेख में सूत्र रूप से ही कुछ प्रमुख बातें आपके सामने रखने का प्रयास करूँगा।

जब मैं आज तक देखी, और याद के पर्दे पर कुछ-न-कुछ रेखाएँ छोड़ जाने वाली फ़िल्मों का स्मरण करता हूँ, तो मैं फ़िल्मों में चार-पाँच तरह का हास्य पाता हूँ; यों हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने हास्य के आठ प्रकार बताये हैं। लेकिन हास्य के शास्त्रीय विवेचन में न जा कर, मैं आसानी के लिए, फ़िल्मी हास्य को पाँच भागों में सँजो लेता हूँ।

सीधा हास्य — यह हास्य ज़िन्दगी से सीधा फ़िल्म में आ जाता है।

एक लाल बुझक्कड़ घर से कुछ रुपया ले कर कमाने निकलता है। कुछ उठाईगीरे उसके पीछे लग जाते हैं। वे उसे एक छोटी-सी मशीन दिखाते हैं, जो सादे काग़ज़ की जगह सौ का नोट बना देती है। यह मशीन दे कर, वे उससे उसका सारा रुपया झटक लेते हैं; और जब वह इस खुशी में एक बढ़िया रेस्तराँ में जा कर डट कर खाता है और साथ में और दो-चार को भी खिलाता है, तो बिल देते वक्त उसे मालूम होता है कि वह ठगा गया है।

एक दुकानदार थथला कर बोलता है। दुर्भाग्य से, एक थथला ख़रीदार आ जाता है।

"क्....क्....क्....क्या माँगता है?" दुकानदार पूछता है।

"ब....ब....ब....बर्फ़, एक सेर," ख़रीदार कहता है।

और दुकानदार बर्फ़ तोड़ने वाली लकड़ी उसके सिर पर दे मारता है कि साले मेरा मज़ाक उड़ाता है।

और भीड़ जमा हो जाती है।

एक लम्बी दाढ़ी वाला साधू सिर पर जटा-जूट धारे, गले में रामनामी दुपट्टा लपेटे, एक हाथ में कमण्डल दूसरे हाथ में माला लिये, दो ग़रीब भक्तों की जेब खाली कर चला श्रा रहा है, कि दो मसखरे युवकों की नज़र उस पर पड़ जाती है। श्राँखों-ही-श्राँखों में वे उसे 'बनाने' का फ़ैसला करते हैं; एक बढ़ कर उसके चरणों पर लेट जाता है; श्रौर जब साधु उसे उठाता है, तो वह हाथ जोड़ कर विनती करता है, कि महाराज श्राज श्राप हमारे साथ भोजन करें। बड़ी श्रनुनय-विनय के बाद साधू मान जाता है। तब उससे यह कह कर कि वे लोग तो होस्टल में रहते हैं, वहाँ खाना श्रच्छा नहीं पकता, वे उसे एक बढ़िया होटल में ले जाते हैं; श्रौर साधू से पूछ कर बढ़िया खानों का श्रार्डर देते हैं। जब खाने श्रा जाते हैं तो श्रचानक एक कहता है, "भाई, साधु महाराज तो यह नहीं खायेंगे। यह तो कस्टर्ड है, इसमें श्रण्डे होते हैं।"

"हाँ-हाँ, तुम यहाँ से एक कटोरी ले लो; श्रौर पाव भर रबड़ी भाग कर ले श्राश्रो।" उसका साथी कहता है।

पहला युवक तत्काल चला जाता है। जब वह पन्द्रह मिनट तक नहीं श्राता, तो उसको गालियाँ देता हुश्रा, तथा एक श्रौर कटोरी ले कर दूसरा भी ग़ायब हो जाता है।

इधर साधू महाराज खूब छक कर भोजन करते हैं श्रौर बड़े-बड़े डकार लेते हैं; श्रौर मन-ही-मन बड़े प्रसन्न होते हैं कि ऐसे भक्त उन्हें रोज़-रोज़ मिलें।

जब घण्टा भर तक रबड़ी नहीं श्राती, तो होटल वाले साधू-महाराज के पीछे पड़ जाते हैं, श्रौर भक्तों से ठगे हुए पैसे ही नहीं, उनका दुपट्टा तक उतरवा लेते हैं।

ऐसी सहस्त्रों घटनाएँ रोज़ घटती हैं, जो श्रनायास होंटों पर मुस्कान या ठहाका ले श्राती हैं। फ़िल्म का सफल निर्देशक श्रथवा लेखक (यदि उसे जीवन का श्रनुभव है, श्रथवा उसने जीवन से हास्य का संचय करना सीखा है तो) उन्हें बड़े उपयोगी ढंग से बढ़ा-घटा कर श्रपने काम में ला सकता है।

श्रतिरंजित हास्य – ज़िन्दगी की श्राम हास्य-भरी स्थितियों श्रौर घटनाश्रों पर रंग चढ़ा कर हास्यकार उन्हें श्रौर भी हास्यमय बना देते हैं। हास्य-रस के लेखक को, यों भी, कुछ श्रतिरंजना से काम लेने की छूट है। 'ब्लॉक हेड्स' नामक फ़िल्म का पहला दृश्य ही इसका उत्तम नमूना पेश करता है। दो सन्तरी १६१७ के पहले महायुद्ध में, किसी खन्दक पर पहरा दे रहे हैं कि हमले का श्रादेश मिलता है। खन्दक में छिपे सारे जवान हमले के लिए बढ़ जाते हैं; श्रौर सब-के-सब मारे जाते हैं। शीघ्र ही सन्धि के बिगुल बजते हैं। फिर पर्दे पर बड़ा-सा १६३२ श्राता है; श्रौर फिर उसी खन्दक का दृश्य। वे दोनों सन्तरी (पार्ट लॉरेल तथा हार्डी बने रहे हैं) युद्ध खत्म होने के पाँच साल बाद भी, बदस्तूर वहीं पहरा दिये जा रहे हैं। खन्दक के दोनों सिरों पर जहाँ से वे घूमते हैं, गहरे गोल गड्ढे बन गये हैं; श्रौर बटालियन का सारा टीन बन्द राशन वे खाते रहे हैं। लॉरेल एक डिब्बा खोल कर जब उसे खाली करके फेंकता है, तो हम देखते हैं, कि खाली डिब्बों का श्रम्बार लगा हुश्रा है।

इन दो-चार दृश्यों ही में, उन दोनों की वज्र-मूर्खता हम पर सिद्ध हो जाती है श्रौर हम श्रनायास ठहाका मार उठते हैं।

इसी तरह 'इन्सपेक्टर जनरल,' 'ए किड फाम ब्रुकलिन,' 'ए मिलियन पाउण्ड नोट,' 'फ़ैब्युलस सेनोरीटा,' श्रादि फ़िल्में इस श्रतिरंजित हास्य के बड़े सुन्दर नमूने प्रस्तुत करती हैं।

स्थूल हास्य – स्थूल हास्य वास्तव में श्रतिरंजित हास्य ही की श्रेणी में श्राता है। श्रन्तर केवल हास्य (वस्तु) का है। श्रतिरंजित हास्य जब श्रच्छी वस्तु को ले कर प्रस्तुत किया जाता है, तो वह श्रतिरंजित होते हुए भी, स्थूल नहीं रहता; श्रौर जब वस्तु श्रसुन्दर रहती है, तो वह भोंडा हो जाता है।

एक मूर्ख बेकार किसी उलझन में फँस कर, पीछा करने वालों से बच कर भागता है, तो एक बाज़ारू कैमरामैन के स्टॉल पर पहुँच जाता है। कैमरामैन कहीं गया हुश्रा है। वह कैमरामैन बन कर फोटो खिंचाने वालों को बुलाने लगता है। तभी, एक बड़ी मोटी स्त्री श्रपने पतले-से पति को ले कर फ़ोटो खिंचाने पहुँच जाती है। वह फ़ोटो लेने का उपक्रम करता है, जिसके बेढंगेपन के एक-दो शॉट ले कर डायरेक्टर लोगों के ठहाके पा लेता है; श्रौर कुछ क्षण बाद, जब वह कैमरे से फ़ोटो निकाल कर देता है, तो वह एक मोटी भैंस का होता है। मोटी स्त्री क्रोध से मुँह बनाती है श्रौर दसन्नी-वाले ठहाके लगा कर हॉल गुँजा देते हैं।

किसी के मोटापे श्रथवा सूखे बाँस ऐसे पतलेपन को ले कर, किसी के पक्षाघात-मारे मुँह श्रथवा शरीर को ले कर, किसी के लँगड़े श्रथवा लुंजेपन को ले कर, किसी के यौन सम्बन्ध को ले कर बेढंगेपन से किये गये मज़ाक भौंडे, स्थूल हास्य की श्रेणी में श्राते हैं; श्रौर भारतीय फ़िल्मों से इसके दसियों नमूने प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

शिष्ट हास्य – शिष्ट हास्य में वस्तु शिष्ट रहती है। बहन-भाई में, बाप-बेटे में, ससुर-बहू में, देवर-भाभी में, पति-पत्नी में, किये गये ऐसे सरल, सीधे मज़ाक, जो होंटों पर मुस्कान या हँसी लायें, पर मन पर बुरा प्रभाव न डालें – शिष्ट हास्य की श्रेणी में श्राते हैं। 'न्यू थियेटर्स' से जिन दिनों श्रच्छी फ़िल्में बना करती थीं श्रौर फ़ार्मूला-फ़िल्मों का चलन नहीं हुश्रा था, हमारी फ़िल्मों में शिष्ट हास्य सदा देखने को मिलता था।

'प्रेज़िडेंट,' 'धरती माता,' 'पूरन भगत,' 'मुक्ति,' 'देवदास,' 'विद्यापति,' में जहाँ-जहाँ भी हास्य के प्रसंग श्राये हैं, शिष्ट रहे हैं। 'करोड़पति' में ज़रूर एक

जगह भौंडा प्रसंग देखने को मिला। बरुआ के 'जवाब' में भी शिष्ट हास्य के बड़े सुन्दर प्रसंग आये। शान्ताराम की फ़िल्म 'पड़ोसी' और 'झनक झनक पायल बाजे,' 'तीन बत्ती चार रास्ता' और 'तूफ़ान और दीया' में भी शिष्ट हास्य देखने को मिलता है। 'तूफ़ान और दीया' में जहाँ-जहाँ बहन-भाई में मज़ाक के प्रसंग आये हैं, हास्य बड़ा शिष्ट रहा है। 'मिर्ज़ा ग़ालिब' और 'गर्म कोट' में मित्र-मण्डली का हास्य तीव्र होने पर भी शिष्ट रहा है।

सूक्ष्म हास्य – सूक्ष्म हास्य न केवल अतिरंजनाहीन हास्य है, बल्कि यथार्थ स्थिति में भी पूरा खोले बिना, यथार्थ से कुछ कम कह कर संकेत रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यह वास्तव में व्यंग्य की श्रेणी में आता है और ठहाके के बदले होंटों पर मुस्कान लाता है। वह मुस्कान भी, कई बार, मन ही के होंटों पर आती है। मुझे यह लेख लिखते समय, पन्द्रह-बीस बरस पहले देखी एक फ़िल्म – 'ब्लड एण्ड सैण्ड' – का एक दृश्य स्मरण आता है, जब कि फिल्म का नायक (टायरोन पावर) जो अपने पिता की तरह बुलफ़ाइटर बनना चाहता था, घर से भाग कर, देश-देशान्तर में अपने कमाल के जौहर दिखा कर अपने देश लौटता है। अपनी माँ को उसने अपने आने की सूचना दे रखी है। स्टेशन पर किसी नेता के (अथवा किसी दूसरे हीरो) के स्वागत हेतु बड़ी भीड़ जमा है। गाड़ी की खिड़की से इतनी भीड़ देख कर वह समझता है कि वह भीड़ उसी के स्वागत हेतु आयी है। पर वह स्टेशन पर उतरता है, तो एक भी आदमी उससे हाथ नहीं मिलाता। सब दूसरे नेता अथवा हीरो से हाथ मिलाने को आतुर हैं; और उसे ले कर चले जाते हैं। वह भौंचक्का-सा खड़ा रहता है; और तब वह देखता है, कि उस सूने स्टेशन पर उस भरी भीड़ में केवल एक स्त्री खड़ी है, जो उसे देख कर उसकी ओर बढ़ती है। वह उसकी माँ है।

उस भीड़ में, जब कोई आदमी उसकी ओर बढ़ता है और टायरोन समझता है कि वह उसका स्वागत करेगा, पर वह उसकी ओर देखे बिना आगे बढ़ जाता है, तो उसकी भाव-भंगिमा से होंटों पर अनायास मुस्कान अथवा हँसी आ जाती है, पर अन्त में जब उसकी माँ आगे बढ़ती है, तो दिल को कुछ होने-सा लगता है। यह हास्य कई बार आँखों में आँसू ला देता है और मैं इसे उत्तम हास्य मानता हूँ। चार्ली चैपलिन ने 'सिटी लाइट्स' तथा 'सरकस' में इसका बड़ा उत्तम प्रयोग किया है। राजेन्द्रसिंह बेदी के 'गर्म कोट' में भी सूक्ष्म-हास्य का एक बड़ा ही सुन्दर प्रसंग आता है :

डाकखाने के कुछ क्लर्क अपने घर से अपना-अपना खाना ले आते हैं। और लंच के समय सारे मिल कर खाते हैं। एक सिकुड़ा-सड़ा, कंजूस क्लर्क, सिर्फ़ उनकी दाल में नींबू निचोड़ कर ही उनके साथ शामिल हो जाता है। एक दिन, वे उसकी बड़ी गत बनाते हैं। वह ऐसा खिन्न होता है कि दूसरे दिन वह अलग

कोने में जा बैठता है। कुछ दिन, वे सुख की साँस लेते हैं, पर उसकी जुदाई उन्हें खलने लगती है। आखिर वे सभी उसे जा घेरते हैं और मजबूर करते हैं कि वह अपना नींबू उनकी दाल में निचोड़े और उनके साथ मिल कर खाये।

यह स्थल हँसाते-हँसाते आँखों में अनायास आँसू ला देता है।

इन पाँच तरह के हास्यों को यदि एक ही नाटक में देखना हो, तो टैनेसी विलियम्स का नाटक 'कैट ऑन ए हॉट टिन रूफ़' देखिए। नाटक के पात्रों का सांस्कृतिक स्तर दिखाने के लिए लेखक ने सभी तरह के हास्य का प्रयोग किया है और बड़ी सफलता से किया है।

फ़िल्मों के इन विभिन्न प्रकार के हास्य-प्रसंगों का विवेचन करने के बाद, मैं इन सबको दो श्रेणियों में रखना चाहूँगा (१) उद्देश्य-हीन हास्य। (२) सोद्देश्य हास्य।

फ़िल्म का डायरेक्टर अथवा फ़िल्म का कहानी-लेखक अपनी रुचि के अनुसार इन दोनों तरह के हास्य का प्रयोग करता है।

उद्देश्य-हीन हास्य – यदि वह 'कला, कला के लिए,' के सिद्धान्त में विश्वास रखता है, तो वह अपनी हास्य-प्रधान फ़िल्म, उसकी कहानी, उसकी घटनाओं और पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए दी गयी भाव-भंगिमाओं में सीधे, सूक्ष्म, अथवा अतिरंजित हास्य को ऐसे प्रस्तुत करेगा, जिसका उद्देश्य केवल दर्शकों को हँसाना हो। अपनी सारी एकाग्रता वह इसी एक बिन्दु पर लगा देगा।

लॉरेल और हार्डी की अधिकांश फ़िल्में इसी शुद्ध हास्य की कोटि में आती हैं। दोनों कलन्दर-पेशा, सनकी, लाल बुझक्कड़ हैं – एक मोटा; एक पतला। और दोनों अपने हास्यास्पद चरित्रों, भाव-भंगिमाओं और हरकतों से दर्शकों को हँसा-हँसा कर लोट-पोट कर देते हैं। कल्पित जासूसी कहानी, जैसे शुद्ध मनोरंजन की सृष्टि करती है, उसी तरह, लॉरेल-हार्डी की फ़िल्में (इसी तरह की दूसरी फ़िल्में भी, जिनमें 'मूवी क्रेज़ी' की याद मुझे बराबर आती है) शुद्ध हास्य की सृष्टि करती हैं।

ये फ़िल्में किसी समाज, संस्था अथवा व्यक्ति पर व्यंग्य नहीं करतीं। वर्तमान समाज के विभिन्न अंग – ये इतने सारे विभाग, कार्य-व्यापार, धर्म-सम्प्रदाय, उनमें आयी हुई कुरीतियाँ – सब इनके हास्य-व्यंग्य से अछूती रह जाती हैं। यही फ़िल्में हैं, जो जन-साधारण को पसन्द आती हैं। दुर्भाग्य यह है कि हमारे यहाँ के फ़िल्म-निर्माता इस ओर पूरा ध्यान नहीं देते। कुछ हास्य-प्रधान फ़िल्में बनी और सफल भी हुई हैं। लेकिन ऐसी फ़िल्में नहीं बन पायीं, जिनके सम्बन्ध में, बिना किसी विज्ञापन के, हम जान पायें कि हम ऐसी फ़िल्म देखने जा रहे हैं, जिसमें हमें खुल कर हँसने को मिलेगा। लॉरेल और हार्डी की कोई भी फ़िल्म आये, हम किसी विज्ञापन के बिना भी जान जाते हैं कि हम जी भर हँसेंगे।

हमारे यहाँ हास्य-अभिनेताओं की कमी नहीं। 'न्यू थियेटर्स' के आरम्भिक काल में नीमो और नवाब, दीक्षित तथा घोरी और बाद में गोप और याकूब या गोप और आग़ा और इधर भगवान और किशोर – हास्य-अभिनेताओं के गुट, किसी भी फ़िल्म इण्डस्ट्री के लिए गर्व का विषय हो सकते हैं। लेकिन हमारे यहाँ इन जोड़ों का उचित लाभ नहीं उठाया गया।

दो-एक फ़िल्में इन जोड़ों को ले कर ज़रूर बनी हैं; लेकिन उनमें बड़े दोष हैं। 'सगाई' और 'भागम-भाग', इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। पहली में, गोप और याकूब और दूसरी में भगवान और किशोर की बड़ी सफल जोड़ी है। दोनों फ़िल्में सफल भी रही हैं और दोनों में खुल कर हँसने के कई अवसर भी आते हैं। लेकिन उन्हें देख चुकने के बाद, अचानक दो बातें मन में आती हैं :–

१ – कि, ऐसे गुटों को ले कर और भी फ़िल्में बननी चाहिएँ।

२ – कि, यदि डायरेक्टर कलात्मकता का कुछ और खयाल रखें, तथा फ़िल्मों की कहानी यदि यथार्थ नहीं, तो सम्भाव्य जरूरी हो, तो उन्हें देखने के बाद, मन में असन्तोष की भावना न रहे।

'सगाई' और 'भागम-भाग' – दोनों में अभिनेता हमें खूब हँसाते हैं। पर, दोनों ही में, हास्य के प्रसंग, कथानक के जिस तार से बँधे हैं, वह इतना बारीक है, कि टूट कर जब कहीं जुड़ता है, तो एकदम असम्भव मालूम होता है। कहानी की दृष्टि ही से नहीं, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी, पात्र अपनी सत्ता नहीं बना पाते। उनका अस्तित्व भी असम्भव मालूम होता है। इसके मुकाबिले में 'ब्लॉक हैड्स' या 'मूवी क्रेज़ी' अतिरंजित होने पर भी, एकदम ठीक लगती है। 'सगाई' तो, गानों और नृत्य के बल पर अपनी तमाम असम्भावनाओं के बावजूद, मन लगाये रखती है, पर 'भागम-भाग' में इण्टर्वल के बाद मन ऊब उठता है।

यदि ऐसी फ़िल्मों के अन्तिम मसौदे, किसी सफल कहानी-लेखक को, (चाहे वह फ़िल्मी कहानी-लेखक न भी हो) दिखा दिये जायँ, और उससे कहा जाय, कि हास्य के इन सभी प्रसंगों को बरकरार रखते हुए, कहानी को सम्भाव्य बना दीजिए, तो जरा-से हेर-फेर के बाद निश्चय ही ऐसा हो सकता है, और फ़िल्म ज्यादा आनन्द दे सकती है। पर, ट्रैजेडी हास्य-रस ही की फ़िल्मों की नहीं, हमारी अधिकांश फ़िल्मों की है। हमारे फ़िल्म-निर्माता कहानी के गठन, चरित्र-चित्रण अथवा सम्भाव्यता को कोई महत्व नहीं देते। वे पहले गाने लिखवा लेते हैं और हास्य के प्रसंग जुटा लेते हैं, और उसे किसी एकदम असम्भव कथानक से जोड़ देते हैं।

लेकिन इन्हीं शुद्ध हास्य की फ़िल्मों में कुछ ऐसी फ़िल्में भी हैं, जिनका स्तर साधारण मनोरंजन से ऊँचा है। कला उच्च स्तर की, कथानक गठा और चरित्र-चित्रण अतिरंजित हो कर भी स्वाभाविक लगता है; यद्यपि उद्देश्य इनका

भी शुद्ध हास्य प्रस्तुत करना है। ये समाज को नहीं छूतीं, पर व्यक्ति विशेष की, उसकी सनक, खुशामद-परस्ती, अहंकार, झूठ, छल, कपट और ऐसी ही दूसरी विशेषताओं का उद्‌घाटन करती हैं। मुझे एक भारतीय फ़िल्म (नाम मैं शायद भूल रहा हूँ) का एक दृश्य याद आ रहा है। उसमें इण्डियन चार्ली एक मेजर या कर्नल के यहाँ कुछ काम पाने जाता है। बरामदे में कर्नल का बड़ा-सा चित्र लगा है। पहली दृष्टि में ही, चार्ली पहचान जाता है, कि यह उसी कर्नल का चित्र है। पर वह उस कर्नल को, (जिसका पार्ट उल्हास कर रहा है) प्रसन्न करना चाहता है। वह उस चित्र की ओर देख कर पूछता है, "यह शानदार तस्वीर तो किसी महान हस्ती की लगती है!"

उल्हास कहता है, "बताओ, यह किसकी तस्वीर है।"

तब, दोनों हाथ मलते हुए, एक नज़र कर्नल पर डाल, तस्वीर को बड़े ध्यान से देख कर वह कहता है, "यह तो किसी बड़े वीर योद्धा की तस्वीर है।"

"हाँ, हाँ, बोलो, बोलो; यह किसकी है?" कर्नल प्रसन्न होता हुआ लुक़्मा देता है।

चार्ली एक बार उसको ओर देख कर, फिर तस्वीर की ओर देखता है; और वैसे ही हाथ धोने के अन्दाज़ में हाथ मलते हुए कहता है, "यह तो किसी बड़े ही महान आदमी की, किसी बड़े ही दिलावर की तस्वीर है।"

कर्नल और भी प्रसन्न होता है। अपनी बड़ी-बड़ी मूँछें पर ताव देता हुआ फिर उसे प्रोत्साहन देता है, "हाँ हाँ, बताओ यह किसकी तस्वीर है?"

चार्ली फिर उसकी ओर देख कर, फिर तस्वीर की प्रशंसा कर देता है।

और, जब कर्नल के उल्लास और औत्सुक्य का प्याला पूरी तरह भर जाता है, चार्ली कहता है, "मैं पहचान गया। यह तो आपकी तस्वीर है।" और कर्नल प्रसन्न हो कर उसकी मनोकामना पूरी कर देता है।

खींच-तान कर इस दृश्य का भी उद्देश्य अफ़सरों की खुशामद-परस्ती अथवा खुशामद-परस्त अफ़सरों को ठगने वाले लम्पटों का चरित्र-चित्रण बताया जा सकता है। पर वास्तव में, यह भी शुद्ध हास्य ही के अन्तर्गत आता है।

सोद्देश्य हास्य – इसके मुकाबिले में, ऐसा हास्य भी फ़िल्मों द्वारा प्रस्तुत हो सकता है, (और प्रस्तुत किया भी जाता है), जिसका उद्देश्य केवल हास्य प्रस्तुत करने के अतिरिक्त भी कुछ रहता है। और वह उद्देश्य भला होता है। हमारे यहाँ की फ़िल्मों में अतिरंजित और स्थूल हास्य चाहे जितना हो, पर सोद्देश्य हास्य बड़ा कम है। तो भी 'मिस्टर सम्पत' में इसकी अच्छी झलक मिलती है। फ़िल्म के निर्माता ने एक अवसरवादी, चतुर और चालाक नौजवान का बड़ा सुन्दर चरित्र उपस्थित किया है, जिसके फूलने-फलने के लिए आज की सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था अत्यन्त उपयुक्त है। वह बेकार युवक किस तरह अपनी

चालाकी और चतुराई के बल पर इस व्यवस्था में फूलता-फलता और ऐश करता है (और जैसा कि फ़िल्म का अन्तिम दृश्य बताता है) और आगे भी करता रहेगा, यही इस फ़िल्म में दिखाया गया है। मोतीलाल ने मिस्टर सम्पत का पार्ट बड़ी ही खूबी और अनायासता से किया है; और वह हमें खूब हँसाता है। लेकिन यह फ़िल्म किसी एक व्यक्ति का ही चित्रण नहीं करती, बल्कि इशारों-इशारों में हमारे सामाजिक जीवन की बीसियों खराबियों की ओर भी संकेत करती है। 'श्री ४२०' फिल्म में राजकपूर ने भी कुछ ऐसा ही प्रयास किया है; पर मिस्टर सम्पत का गठन, सोद्देश्यता और संकेत उसमें नहीं आ पाये।

पश्चिमी फ़िल्मों में चार्ली चैपलिन की फिल्में और गोगोल के 'इन्सपेक्टर जनरल' का फ़िल्मी वर्शन सोद्देश्य फ़िल्मों के उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। 'गोगोल' के लिखे नाटक के उद्देश्य के नुकीलेपन को काफ़ी घिस कर और काफ़ी अतिरंजित कर 'इन्स्पेक्टर जनरल' फ़िल्म रजत-पट पर प्रस्तुत की गयी है। पर जहाँ डैनी के की ऐक्टिंग की याद बनी रहती है, वहाँ उस हास्य-भरे व्यंग्य की स्मृति भी नहीं मिटती, जो कस्बाती अफ़सरों की अज्ञानता, रिश्वतखोरी, कायरता और चाटुकारिता पर तीखी चोट करता है। और तुर्रा यह है कि आरम्भ से अन्त तक हँसते-हँसते हमारे पेट में बल पड़ जाते हैं।

'ए मिलियन पाउण्ड नोट' भी समाज में धन के अतिरिक्त महत्व के खोखलेपन का भण्डा फोड़ती है और यद्यपि उसकी चोट उतनी करारी नहीं, और न उसका व्यंग्य उतना तीखा है, और न ग्रेगरी पेक के लिए उसमें पार्ट करने का उतना स्कोप ही है, तो भी उसके हास्य-व्यंग्य की सोद्देश्यता में सन्देह नहीं।

लेकिन, इन दो फ़िल्मों में सीधे अथवा अतिरंजित हास्य से काम लिया गया है। सोद्देश्यता कहानी की वस्तु और उसके प्रस्तुतीकरण में हैं। इनकी तुलना में चार्ली चैपलिन की फ़िल्में सूक्ष्म, सोद्देश्य, प्रतीकात्मक हास्य का बड़ा ही उत्तम नमूना प्रस्तुत करती हैं और कला की अनुपम कृतियाँ हैं। 'सरकस' हो, 'सिटी लाइट्स' हो, अथवा 'मोसिए वर्दू' हो, यद्यपि हम फ़िल्म के दौरान लगातार हँसते रहते हैं, लेकिन फ़िल्म के खत्म होते-न-होते, हमारी आँखों में आँसू आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त चार्ली चैपलिन का हास्य उसके व्यंग्य को कुन्द नहीं करता, प्रत्युत और भी गहरा कर देता है।

'मोसिए वर्दू' में हम देखते हैं कि घोर मन्दी के कारण, जो पूंजीवादी व्यवस्था का अनिवार्य फल है, जब बैंक फ़ेल हो जाते हैं, और मोसिए वर्दू बेकार हो जाता है, तो वह अपने बीवी-बच्चों को भूख-मौत से बचाने के लिए एक घोर अपराध का भागी होता है। वह धनी विधवाओं को ठगता है, उनसे झूठा प्रेम दिखा कर शादी करता है, और फिर उन्हें ज़हर दे कर उनके धन पर कब्ज़ा कर लेता है। वह पकड़ा जाता है। और उस समय, जब चन्द औरतों की हत्या

के अभियोग में उसे फाँसी दी जा रही होती है, उसे ये हत्याएं करने को विवश करने वाले, दुनिया को दूसरे महायुद्ध में झोंक कर लाखों की हत्या का आयोजन कर रहे होते हैं। चार्ली चैपलिन का व्यंग्य इतना अचूक है, कि सीधा निशाने पर जा कर लगता है।

और मज़ा यह है, कि शुरू से आखिर तक हम हँसते रहते हैं। यहां तक कि जब मोसिए वर्दू फाँसी के लिए जाता है, तो वह अपनी एक अदा से हमें हँसा जाता है।

'मोसिए वर्दू' और 'ग्रेट डिक्टेटर' के तीव्र व्यंग्य से अमरीका के भाग्य-विधाता इतने नाराज़ हुए कि चार्ली चैपलिन को अमरीका छोड़ कर निर्वासित होने पर विवश होना पड़ा। लेकिन, यह उसकी हास्य-रस प्रधान फ़िल्मों के उद्देश्य की सफलता ही का प्रमाण है।

लेकिन कुछ ऐसी भी फ़िल्में हैं, जो पहली नज़र में सोद्देश्य और उपादेय लगती हैं; उनमें न हास्य वैसा भोंडा होता है, न फूहड़; कहानी भी ठीक होती है, और ऊपरी नज़र से देखने पर उनका निश्चित उद्देश्य भी दिखायी देता है – लेकिन, ज़रा-सी गहराई से देखने पर उनकी यथार्थता का पता चल जाता है, कि वे हमारे निचले वर्ग के बेकार, अनपढ़, निठल्ले और असफल नौजवानों की भावनाओं का अनुचित लाभ उठाने के हेतु बनायी जाती हैं; इसलिए कि फ़िल्में वही ज़्यादा देखते हैं और हमारी फ़िल्मों की सफलता के आधार वही हैं। चूंकि ये फ़िल्में उन बेकार असफल नौजवानों के दिवा-स्वप्नों को चित्र-पट पर साकार कर दिखाती हैं, इसलिए सफल होती हैं।

इन फ़िल्मों का हीरो प्रायः कोई बेकार निठल्ला, आवारा और अनपढ़ रहता है। उससे एक बड़े अमीर घर की लड़की प्रेम करने लगती है। और अन्त में, उन दोनों का विवाह हो जाता है। ये फ़िल्में सर्व-साधारण को ग्राह्य हों, इसलिए इनमें देश-प्रेम, पति-प्रेम अथवा सत्य-प्रेम को नायक अथवा नायिका में दिखा कर उन्हें और भी चुटीला बना दिया जाता है।

'शारदा' और 'नमस्ते' मेरे कथन का प्रमाण हैं। यों उद्देश्य की दृष्टि से, दोनों फ़िल्मों का उद्देश्य आधुनिक युवतियों अथवा आधुनिक शिक्षा पर व्यंग्य करना है, जो कि हमारे निचले दर्शकों को बड़ा भाता है। लेकिन, वास्तविक उद्देश्य वही है, जिसका मैंने उल्लेख किया। पहली का नायक एक कसरती, अनपढ़, आवारा, निठल्ला मुर्ग़बाज़ है, जो अपने फक्कड़पने से हमें खूब हँसाता है, और अपने इन्हीं गुणों से एक धनी विधवा की इकलौती एम० ए० पास लड़की का प्रेम पाने और उससे विवाह करने में सफल हो जाता है।

दूसरी में एक आवारा और बेकार युवक एक बड़े अमीर आदमी की, शिक्षित पर उद्दण्ड, लड़की को सुधार कर उससे विवाह करने में सफल हो जाता है।

दोनों में वास्ती ने बड़ी सफलता से काम किया है और वह खूब हँसाता है। मुझे इन फ़िल्मों के हास्य से शिकायत नहीं। वह स्थूल होते हुए भी भोंडा नहीं। मुझे आपत्ति उसके उद्देश्य और परिणाम से है। बेकार युवकों को परिश्रम से सफल होना सिखाने के बदले, ये फ़िल्में, उनके निठल्लेपन को प्रोत्साहन देती हैं; उन्हें ऐसे गुण सिखाती हैं, जो जीवन में कौड़ी काम के नहीं; और उन्हें ऐसे दिवा-स्वप्न दिखाती हैं, जो यथार्थ जीवन में कभी पूरे नहीं होते।

जिन दिनों, 'शारदा' जुबली मना रही थी, मेरे एक मित्र, जो दफ़्तर में हेड-क्लर्क थे, दिन भर के काम से थक कर घर आये। उनके बड़े साहबज़ादे एफ़० ए० में फ़ेल हो चुके थे और पिता के ज़ोर देने पर दूसरी बार परीक्षा देने की तैयारी कर रहे थे। बरामदे ही से मेरे मित्र ने सुना। अपने भौंडे स्वर में तन्मय हो कर उनके साहबज़ादे गा रहे थे – 'शारदा' के मुर्ग़बाज़ का वही लोकप्रिय गीत :

दुनिया में सब जोड़े जोड़े
आशिक फिरें निगोड़े
हो रामा,
आशिक फिरें निगोड़े ॥

यह गनीमत है, कि उनकी बग़ल में मुर्ग़, और हाथों में ढोलक नहीं था। हेड-क्लर्क साहब ने जल कर कहा कि मियाँ साहबज़ादे, गाना छोड़ कर पढ़ने की कोशिश करो। अगर तुम समझते हो, कि कोई एम० ए० पास लड़की तुम्हारी इस अदा पर फ़िदा हो जायगी, तो तुमसे बड़ा अहमक कोई नहीं।

उन्होंने मुझे यह किस्सा सुनाया, तो मैं मन-ही-मन ठहाका मार कर हँस उठा और मेरी कल्पना के सामने हास्य-रस की एक कहानी के पन्ने खुलने लगे, जिसमें एक निकम्मा, आवारा युवक फ़िल्में देख कर पास-पड़ोस की धनी, शिक्षित लड़कियों से प्रेम करने की कोशिश करता है, और ठोकर-पर-ठोकर खाता है, और आखिर में क्रोध से किताबें ले कर बैठ जाता है और परीक्षा में उत्तीर्ण हो कर कम्पीटीशन में बैठता है, और अन्त में अपनी पहली प्रेमिका के घर वालों से विवाह का पैग़ाम पा जाता है।

ऐसी कहानी हास्य के सभी प्रसंगों के साथ सोद्देश्य भी हो सकती है, पर उधर शायद हमारे फ़िल्म-निर्माताओं का ध्यान नहीं जाता।

१९५५ ✱ ✱